काव्य और भाषा : उनके शास्त्र सन्दर्भ

मुनीश्वर झा

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

काव्य-भाषा में एक ऐसी झंकृति विद्यमान है, जिससे पाठक अथवा श्रोता की हृदयतंत्री भी झंकृत हो जाती है, जहाँ बाह्य अनुकृति मात्र होती है, फलतः तथ्यावधारण की ओर-ध्यान कम जाता है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में तथ्य निरूपण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। विचार-निरूपण में पूर्वाग्रह नहीं है। प्राचीन और नवीन मतों के अन्वीक्षण के पश्चात् विद्वान लेखक ने काव्यशास्त्रीय एवं भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर मूल उद्धरणों सहित भाषा एवं काव्य का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। शैली प्रसादमयी है।

प्रथम अध्याय विषयावतरण है, जिसमें भाषा और काव्य का पारस्परिक सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय अध्याय में भाषा और शब्दार्थ का विवेचन है। तृतीय अध्याय में काव्य के कथ्य के रूपों में रस और भाव का सैद्धान्तिक प्रतिपादन हुआ है। चतुर्थ अध्याय में काव्य के उत्कर्षक और अपकर्षक के रूपों में गुण, रीति, अलंकार और दोषादि वर्णित हैं। पञ्चम अध्याय में भारतीय साहित्यालोचन के ध्वनिवाद और वक्रोक्तिवाद-दो मुख्य काव्यवादों की चर्चा हुई है। षष्ठ अध्याय में काव्य का भाषिक निरूपण है, जहाँ अध्ययन भाषा शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप हुआ है। अन्तिम अध्याय में काव्य और भाषा को लेकर तथ्य-संकलन है। जिसमें प्राचीन और आर्वाचीन मान्यताओं के आधार पर निष्कर्ष निकाले गये हैं।

भारत स्वातन्त्र्य स्वर्णजयन्ती ग्रन्थमाला—15

काव्य और भाषा :
उनके शास्त्र-सन्दर्भ

मुनीश्वर झा

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

1998

पुरोवाक्

योऽनूचानस्स नो महान् के अनुरूप संस्कृत के संरक्षण, संवर्धन तथा प्रचार-प्रसार के लिए सन्नद्ध राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान ने भारत की स्वातन्त्र्य-स्वर्ण-जयन्ती के उपलक्ष्य में विविध शैक्षिक कार्यक्रमों का आयोजन किया है, यह संस्कृतानुरागियों के लिए अपार हर्ष का विषय है। संस्कृत की प्राचीन शास्त्रीय परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने एवं राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने में संस्थान का योगदान संस्कृत जगत् में सुविदित है।

भारत की स्वातन्त्र्य-स्वर्णजयन्ती के कार्यक्रमों के अन्तर्गत देश के विभिन्न प्रान्तों के मूर्धन्य मनीषियों द्वारा संस्कृत के विविध शास्त्रों एवं उनमें निहित वैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को **भारत स्वातन्त्र्य स्वर्ण-जयन्ती ग्रन्थमाला** के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

काव्य और भाषा : उनके शास्त्र-सन्दर्भ नामक यह ग्रन्थरत्न पश्चिम बंगाल के पूर्व शिक्षा सचिव एवं कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्वकुलपति **डॉ० मुनीश्वर झा** के द्वारा लिखा गया है। इस ग्रन्थ में भाषा शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् लेखक ने काव्यशास्त्रीय एवं भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में भाषा एवं काव्य का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। आशा है कि यह ग्रन्थ भाषाशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा। ऐसे ग्रन्थरत्न को संस्थान द्वारा प्रकाशित **भारत स्वातन्त्र्य स्वर्ण-जयन्ती ग्रन्थमाला** में प्रस्तुत करने के लिये हम डॉ० झा-महोदय को हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

भारत की स्वातन्त्र्य-स्वर्ण जयन्ती महोत्सव के उपलक्ष्य में संस्थान द्वारा आयोजित विविध शैक्षिक अनुष्ठानों, विशेषतः ग्रन्थमाला के आयोजन, प्रकाशन

आदि कार्यों में सक्रिय भूमिका निभाने वाले हमारे सहयोगी डा० सविता पाठक, डा० विरूपाक्ष वि० जड्डीपाल आदि साधुवाद के पात्र हैं ।

अमर प्रिंटिंग प्रेस ने अथक परिश्रम कर ग्रन्थ का लोकार्पणार्थ प्रस्तुत कर हमारा सहयोग किया है । इसलिए हम उनके आभारी हैं ।

११.९.१९९८
नई दिल्ली

कमलाकान्त मिश्र
निदेशक
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

आभार-ज्ञापन

सर्वप्रथम मेरा आभार-ज्ञापन **राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान** के प्रति है, जिसने भारत की स्वातन्त्र्य-स्वर्ण-जयन्ती के पावन पर्व पर प्रकाशित होने वाली ग्रन्थ-माला में प्रस्तुत पुस्तक को सम्मिलित कर मुझे आभारी बना दिया है।

संस्थान के निदेशक **डॉ. कमलाकान्त मिश्र** साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान्, मनीषी और कुशल प्रशासक हैं। मैं इनके विद्यानुराग और सौजन्य का सदा प्रशंसक रहा हूँ। मैं इनके प्रति अपना आभार ज्ञापित करता हूँ।

ग्रन्थ के प्रकाशन में मैंने जिन विद्वानों तथा ग्रन्थकारों की रचनाओं का उपयोग किया है, उन सब के प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता है।

व्यक्तिगत जीवन में नतिनी गीताञ्जलि और पोती श्रेयसी मेरे लिए श्रेय और प्रेय दोनों हैं। उनका बालरूप वात्सल भाव का प्राणवन्त काव्य है। यह मेरे वार्धक्य जीवन के उल्लास और आनन्द का विस्तार है। एक कविता है, दूसरी छन्दोवाणी। वेद और छन्दस् की तरह ये दोनों हैं। इनके लिए मेरी मंगलकामनाएँ हैं।

श्रीमती रंजना, एम. ए. का सहयोग मुझे पल-पल संस्फूरित करता आया है। साहित्य-दर्शन उनका प्रिय विषय है। इस रचना के सम्पादन में भी कभी सामग्री-संकलन में, कभी विषय-विश्लेषण में उनका सहयोग अविस्मरणीय है। पाणिनि-सूत्र **पत्युर्नो यज्ञसंयोगे** के अनुसार पति शब्द में नुमागम यज्ञ-संयोग को लेकर होता है। इसीलिए पत्नी को सहधर्मिणी कहते हैं। पत्नी का सहयोग

आभार-ज्ञापन का विषय न रहकर आत्मानुभूति का विषय बन जाता है । **न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।**

अन्ततः प्रूफ-संशोधन में विदुषी/विद्वान् डा० सविता पाठक, डा० विरूपाक्ष वि० जड्डीपाल डॉ० रमेश चन्द्र होता ने जिस निष्ठा और तत्परता से मेरा सहयोग किया है, उसके लिए मैं उनका विशेष आभारी हूँ ।

इति शम् ।

निवेदक

मुनीश्वर झा

विषय-सूची

अध्याय ७

प्रथम अध्याय

विषयावतरण—भाषा और काव्य

मानव स्वभाव से ही सौन्दर्य-प्रेमी होता है । मनन उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है । आदि मानव ने जब अपनी आँखें खोलीं, तो उसके सामने देव-सृष्टि थी । ऊपर नील गगन था, नीचे श्यामला भूमि थी, पवन मधुमय था, स्रोतस्विनी कलकल निनाद करती थी, पूर्व दिशा में उषा अपनी अरुण रश्मियों की चादर लपेटे उपस्थित थी । उसमें उल्लास था । गति में थिरकन थी । आदि मानव को लगा कि उषा नृत्य करती हुई नवजीवन का सन्देश दे रही थी ।

सृष्टि के साथ आदि मानव भी आत्मविभोर हो उठा । उसके हृदय के तार झंकृत हो गये । हर्ष से वह नाच उठा । उसकी आनन्दमयी मुद्रा ताल और लय पर निर्मित हुई । कण्ठ से संगीत का स्वर फूट पड़ा । हृदय में अनेक भाव जगे । भाव से कविता की धारा प्रवाहित हुई । प्रकृति मानव की सहचरी बनी । उसके सान्निध्य में मानव के भाव और पुष्ट हुए । प्रेमी ने फूल से प्रेयसी के जूड़े को सजाया । नदी की कलकल करती धारा के साथ उसका प्रणय-स्वर मिल गया । पक्षी की चहक से उसके भाव उद्दीप्त हो गये । प्रकृति का रमणीय उद्यान रंगमंच बन गया । पुरुष अभिनेता बना, नारी अभिनेत्री । भाव चित्र बने । उनमें चित्रकार ने अपने स्वप्न साकार किए । अन्य कलाकार ने शिलाओं को कुरेद कर अथवा शिला-खण्डों को गढ़कर मूर्त्तियाँ बनाईं । इस तरह आदि मानव ने कला की उपासना की । कवि की कविता निर्झरिणी की तरह उसके मन-सरोवर से फूट पड़ी ।

परिणामत: आदि मानव ने विविध कलाओं की उपासना की । नृत्य, संगीत, काव्य, अभिनय, चित्र तथा मूर्त्ति विद्याओं का प्रादुर्भाव हुआ । युग ने कलाकार को

और सिखाया। उसकी सौन्दर्य-भावना और भी परिष्कृत हुई। आवश्यकता और प्रतियोगिता ने उसमें गति लाई। एक ने अन्वेषण की प्रवृत्ति जगाई। दूसरी ने उसका मार्जन किया। फलतः कला का रूप निखरने लगा। उसमें कलाकार ने जीवन के सूक्ष्म और स्थूल भाव-सौन्दर्य को अपनी भावना द्वारा रूपायित किया।

काव्य भाव-रूपायण ही है। भाव में काव्य की वस्तु-निष्ठता है। वस्तु का ग्रहण व्यक्ति, कवि द्वारा होता है। व्यक्ति या कवि वस्तु को माध्यम विशेष द्वारा उपस्थापित करता है। माध्यम शब्द-विधान है। इस प्रकार **व्यक्ति, वस्तु** और **अभिव्यक्ति** इनमें काव्य की त्रिनिष्ठता सिद्ध है।

वक्ता कविः भाषा = शब्दप्रतीक

वाङ्मय = शब्द-प्रतीकों द्वारा वस्तु अथवा भाव-विचार का रूप विधान।

वस्तुतः आत्माभिव्यञ्जन समग्र कला का मूल मन्त्र है। नृत्य, संगीत, साहित्य चित्र, मूर्त्ति आदि उपयुक्त कलाओं के माध्यम से कलाकार अपने भाव और विचार को अभिव्यक्त करता है। भाषा वाङ्मय का माध्यम है। वह शब्द-प्रतीकों में भाव और विचार को अभिव्यक्त करती है। संस्कृत के महान् वैयाकरण तथा दार्शनिक हरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वाक्यपदीय में कहा है:—

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मं वागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विनिवर्तते॥[1]

वाक्यपदीय ११२, ब्राह्मकाण्ड

ज्ञान आन्तरिक है, वह सूक्ष्म है और वाग् रूप में स्थित है। वह अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए शब्दरूप में विनिमित है।

मनुष्य के विचार-विनिमय में भाषा एक समर्थ साधन है। आत्माभिव्यक्ति मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। आधुनिक भाषाशास्त्री तथा मनोविज्ञानी सुजन के. लैंगर का मन्तव्य है मनुष्य के साथ क्या घटता है, उसके आसपास क्या है,

---

१. हरि : वाक्यपदीय, ११२ (ब्रह्मकाण्ड)

क्या होता है, उसमें क्या अपेक्षित है, इन सब पर चिन्तन करने की शक्ति ही नहीं, अपितु उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने की शाश्वत आकाँक्षा है। शब्द-प्रतीकों द्वारा इन्हें वह अभिव्यक्त करता है। जो व्यक्ति अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं होता है, वह मनन-चिन्तन भी नहीं कर सकता है। यदि मनन नहीं कर सकता, तो वहीं विसंगति उत्पन्न होती है, जो उसके मन में भय उत्पन्न करती है।[१] यही आत्माभिव्यञ्जना भाषा के मूल में निहित है। भाव-प्रकाशनार्थ शब्दों का विधान होता है। इस प्रकार भाषा एक प्रकार का संकेत है जिसमें विचार तथा भाव मूर्तिमान होते हैं।

भाषा को परिभाषित करने का प्रयास प्राचीन काल से ही विद्वानों ने किया है। आज भी उसकी नई-नई परिभाषाएँ दी जाती हैं। वैयक्तिक और सांस्कृतिक आग्रहों की भिन्नता लेकर प्राप्त परिभाषाओं में मत-वैविध्य स्वाभाविक है। सार्वकालिक और सार्वदेशिक संगति के लिए एक सर्वमान्य परिभाषा की अनिवार्यता है। एतदर्थ कहा जा सकता है कि भाषा एक क्रमबद्ध और परम्परागत ध्वनि-माध्यम है। जिसकी विशिष्ट प्रणाली विशिष्ट भाषा में परिपालित है। एल. डि. ब्रेनान के शब्दों में **भाषा मानव-वाग्यन्त्र से उच्चारित शब्द-संकेतों की एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें स्वेच्छा से चुने प्रतीकों और विधानों का समावेश है, जिसका प्रयोग मनुष्य समाज-संगठन तथा अपनी संस्कृति के निर्माण के लिए करता है।**[२] महाभाष्यकार पतञ्जलि की तथाविध मान्यता है : **प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द उच्यते इति।**[३] जिस ध्वनि से लोक में अर्थ प्रतीति हो, उसे शब्द कहते हैं। शब्द व्यापक अर्थ में भाषा का पर्याय है।

इस प्रकार भाषा है—मानव-मन में उत्पन्न विविध विचारों और भावों की अभिव्यञ्जना। इस अभिव्यञ्जना में शब्द प्रतीक हैं, उसी तरह-जैसे हस्तादि इंगित

---

१. एस्.के. लैंगर—द लॉज़ ऑफ क्रियेशन,' पृ.१३२ फॅरचुन मैगज़िन,१९४४

२. एल.डि.ब्रेनान : मॉडर्न कम्युनिकेशन इफेक्टिवनेस,पृ.१५८

३. मम्मट : काव्यप्रकाशः,प्रथम उल्लास।

अथवा मुख-मुद्रा से व्यक्त भाव-भंगिमा । इनमें स्थानान्तरण से अथवा उनके ध्वनियों के उलटफेर से शब्दान्तरों का निर्माण संभव है । तात्पर्य, भाषिक शब्दों में सम्पृक्ति तथा तर्क प्रवणत्व दोनों प्राप्त हैं । अत: शब्दों के स्वतंत्र अध्ययन और विश्लेषण संभव हैं । फ्राँसीसी भाषाशास्त्री भाँद्रियस का मत है कि **भाषा चिह्नों की व्यवस्था है**—*अँ सिस्तेम द सिन* । यह स्वीकार्य है कि इस भाषिक प्रतीकायन में वस्तु अथवा तथ्य के साथ संकेतों का परिणमन विचार-सम्प्रेषण के लिए होता है । भाषा ऐसी वैयक्तिक उपलब्धि है जिसका प्रकार्य सामाजिक है । विचारों और भावों के सामाजिक सम्प्रेषण में भाषा के सार्थक संकेत प्रबलतम साधन हैं । समाज के विभिन्न आग्रहों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की क्षमता सिद्ध है ।

यह निर्विवाद है कि भाषा का प्रयोग अर्थ-बोधकता के लिए होता है । उसमें तत्त्व और रूप की द्विकता है । तत्त्व अर्थ है और रूप शब्द-प्रतीक । स्पष्टत: भाषा अर्थ द्योतन का माध्यम ही है । भाषिक प्रयोगों से वस्तु अथवा निर्देश्य की सत्ता मात्र रूपायित नहीं होती है, अपितु, वस्तुगत भाव भी व्यक्त होता है । इस प्रकार वस्तु अथवा भाव तथा वक्ता के मध्य भाषा एक सम्बन्ध-स्थापन भी है । सारांश, भाषा एक क्रमबद्ध और परम्परागत ध्वनि-माध्यम है जिससे वक्ता अपने आन्तरिक भाव और संचेतन को दूसरे व्यक्तियों के लिए बोधगम्य बनाता है । भाषा में भाषा-भाषी सम्प्रदाय की सांस्कृतिक विचार-सम्पदाओं का भी संग्रहण यथाकाल होता है । इस प्रकार भाषा एक साथ वैयक्तिक और सामाजिक उपलब्धि है ।

काव्यभाषा

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाषा मानवीय अनुभवों के सम्प्रेषण का प्रधान साधन है । यह एक सर्जनात्मक प्रक्रिया है; सजीवता और स्वनिष्ठता भाषिक कल्प हैं । आत्माभिव्यञ्जन, समाज-संगठन, संस्कृति-निर्माण आदि प्रयोजनों को लेकर भाषा में देशगत और कालगत विविधता और दीर्घता के गुण विकसित होते हैं । विषयानुकूल नव-परिवर्त्तन उसमें होते रहते हैं । फलत: भाषिक विशिष्टीकरण के चलते सामान्य भाषा में विविधता देखी जाती है । इस प्रकार

शास्त्रभाषा, गणितभाषा, साहित्यभाषा आदि विशिष्ट भाषाओं में काव्य-भाषा का निजी वैशिष्ट्य भी स्वीकृत है ।

व्याकरण की दृष्टि से काव्य कवि की कृति है । **कवेरिदं काव्यम्**—कवि की आत्माभिव्यञ्जना ही काव्य है । कवि शब्द की निष्पत्ति **कवृ वर्णने** अथवा **कुङ् शब्दे** धातु में औणादिक प्रत्यय इ के योग से होती है । इस प्रकार **कवयति वर्णयति इति कविः अथवा कौति शब्दायते रसभावादीन् उल्लिखति इति कविः** दोनों व्युत्पत्तियों से कवि की सर्जकता तथा वर्णननिपुणता संकेतित हैं । एक और अर्थ- **कवते सर्वं जानाति इति कविः** प्राप्त है । **शुक्ल यजुर्वेद** (४०-२) में **कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः** वेदमन्त्र से परमेश्वर के लिए कवि शब्द का प्रयोग प्राप्त है । वक्ता और मनीषी के रूप में कवि द्रष्टा और स्रष्टा है । कोशकार ने कवि को **संख्यावान् पण्डितः कविः** कहा है । इन अर्थों की पुष्टि व्याकरण की व्युत्पत्तियों से होती है ।

उच्चकोटि का कवि अपनी अन्तर्दृष्टि से भाव और विचार का साक्षात्कार करता है और उसे आह्लादक रूप में पाठक अथवा श्रोता के समक्ष उपस्थापित करता है । काव्य या वाक्कला उसके लिए एक साधन है, एक प्रकार की दृष्टि है । जहाँ कवि अथवा स्रष्टा के विशिष्ट व्यक्तित्व के संस्पर्श से भाव और विचार स्फूर्त्तिमय होकर रूपायित होते हैं । काव्यभाषा इस रूपायन में सर्वाधिक सशक्त साधन है। कथ्य के रूपचारुत्व में शब्दों की ध्वनि संगीतलहरी की तरह प्रभावोत्पादक होती है । वस्तुतः भावानुरूप विभिन्न ध्वनियों के सामञ्जस्य में काव्य-शरीर और काव्यात्मा दोनों अनुप्राणित हो जाते हैं ।

काव्य में शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनों एक साथ अपेक्षित हैं । यह स्वीकार्य है कि काव्यार्थ अथवा भाव काव्य का प्राण होता है, किन्तु काव्यार्थ का आकर्षण उसके सुनियोजन में ही है । सुनियोजन शब्दगत चमत्कार है, वही कवि-कर्म है । कहना चाहिए, काव्य की स्थिति एक ऐसे दर्पण की तरह है । जो चारों ओर चमत्कारी रंगों को विकीर्ण करता है । जिससे वस्तु का स्वाभाविक रूप आकर्षक बन जाता है । उसमें प्रकाश का स्रोत कवि की प्रतिभा अथवा प्रज्ञा है ।

कवि की **प्रज्ञा नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा** होती है। वह अनन्यपरतन्त्रा अर्थात् स्वविधायिनी होती है। कवि जिस वस्तु का वर्णन काव्य में करता है। वह अपनी प्रतिभा और प्रज्ञा के मणि-काञ्चन-संयोग से नवसृजन करता है। अत: **काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट** ने काव्य-वाणी को नव-निर्मिति अथवा नव-सृजन कहा है

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥[१]

कवि अपनी काव्य-रचना में बाह्य और अन्त: दोनों जगतों के सौन्दर्य को स्थायित्व प्रदान करता है। जिस प्रकार कोई मूर्तिकार पाषाण-खण्ड को परिमार्जित कर उसमें नव-मूर्ति का निर्माण करता है, उसी प्रकार कवि अपनी प्रतिभा से मणि के समान चमकने वाले शब्द-पाषाण को निकष पर चढ़ाकर अपने काव्य के माध्यम से कान्तिमान् मणि उपस्थित करता है। **कुन्तक** का वाक्य है :

कवि-चेतसि प्रथमं च प्रतिभा प्रतिभास मानमघटित-पाषाणशकलकल्पमपि प्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवक्रवाक्योपरूढशाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारि काव्यत्वमधिरोहति।[२]

इसी भाव को आचार्य मम्मट ने **लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म** कहा है।

कवि अपने अमूर्त अथवा सूक्ष्म मनोभावों को काव्य में भाषिक अभिव्यञ्जना द्वारा दूसरों के प्रति रमणीय रूप में संप्रेषण करता है। काव्य में मनोभावों की ऐसी अभिव्यञ्जना अपेक्षित है जिससे श्रोता अथवा पाठक में कवि के समान मन:स्थिति उत्पन्न हो। कहना चाहिए- कवि भाव-सर्जक के साथ भावोत्प्रेरक भी है। इसमें काव्य-भाषा का विशिष्ट प्रयोग सहायक है, जहाँ शब्दों में भाव-साहचर्य रहता है।

काव्य की संकल्पना मूलत: भाषा के साथ जुड़ी है। यह भाषा सामान्य भाषा से उद्भूत होकर भी विशिष्ट है। काव्यगत अनुभव भाषागत अनुभव ही है। यही

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश:, प्रथम उल्लास,

२. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम् पृ. ९, कारिका १२ की कारिका

भाषा का विशिष्ट प्रत्यक्षीकरण है । काव्यार्थ या भाव की रूपात्मक संवादिता भाषा में ही मिलती है । काव्यविषयक अभिव्यक्ति शब्द-माध्यम से होती है । इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-लक्षण शब्दमूलक और अर्थमूलक ही दिया गया है। उपलब्ध काव्य-लक्षणों में प्राचीनतम लक्षण भामह द्वारा प्रदत्त है । उनका अभिमत है : **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्** ।[१] शब्द और अर्थ का समन्वित रूप ही काव्य है । इसका प्रबल समर्थन परवर्ती शब्दशास्त्री रुद्रट ने **ननु शब्दार्थौ काव्यम्** कहकर किया है । आगे चलकर आचार्य दण्डी ने प्रकारान्तर से **शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली**[२]—इष्टार्थ द्योतक पदावली को काव्य माना । इससे स्पष्ट है कि शब्द या अर्थ स्वतंत्र रूप से काव्य नहीं होता है, उन दोनों के समन्वित रूप में काव्य की प्राप्ति होती है ।

आधुनिक पाश्चात्य काव्यशास्त्री हैरोल्ड ओस्बर्न की भी मान्यता है : जब तक अनुभव या भाव भाषा का वह रूप धारण नहीं कर लेता, तब तक वह उच्चकोटि में नहीं आ सकता है, वह तो केवल भाषा अथवा अभिव्यक्ति का उपादान बन कर रह जाता है। भाव के विशिष्ट भाषान्तरण में ही काव्य अथवा साहित्य-कला का उद्भव निहित है । प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब तक भाव भाषा में अवतरित नहीं हो जाता है, तब तक कवि और कलाकार में विह्वलता और आन्तरिक वेदना भाव विद्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके अनुभव का कोई गूढ़ अथवा प्रच्छन्न रूप तभी स्पष्ट होता है, जब उसे भाषा का परिधान मिलता है। इस प्रकार काव्य में भाषा भाव-सम्प्रेषण की प्रस्तुति से अभिन्न बनी रहती है ।

काव्य में शब्द प्रतीक होते हैं । शब्द भाव-द्योतन के प्रतीक मात्र हैं ।[३] भाषा सर्वोपरि एक कला है, प्रतीकीकरण की कला । ये शब्द ध्वन्यात्मक और अर्थबद्ध

---

१. भामह : काव्यालङ्कार,—१-१६

२. दण्डी : काव्यादर्श— १-१०, पृ० ८

३. ओस्बर्न : एस्थेटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म, पृ० ३२२

होते हैं । कवि शब्द-संकेतों द्वारा ही दृश्य वस्तुओं तथा प्राप्त भावों का मूर्तविधान करता है । अंग्रेजी के कविसम्राट् शेक्सपिअर की काव्य-वाणी में तथाविध कवि-कर्म निरूपित है ।

सुन्दर नयनोन्माद में कवि के चंचल नयन अवनि से आकाश तक और पुनः आकाश से आरम्भ कर अवनि तक विद्युद्गति से दृष्टिपात करते हैं । तत्पश्चात् कवि की लेखिनी भाव को प्राणस्पन्दित कर काव्य में उसे स्थान और अभिधान देती है ।[१]

कवि स्वानुभूत सत्य अथवा भाव को व्यक्त करने में भाषा को प्रभावी बनाता है । भाषा का प्रभावोत्पादन कवि की क्षमता पर ही निर्भर है । कवि सामान्य भाषा में प्रयुक्त शब्दों को जिस कलात्मकता अथवा क्षमता से भावबद्ध करता है, उससे भावाभिव्यञ्जन में चमत्कार उत्पन्न होता है । कवि की भाषा काव्योपयोगी होती है, वह भाषा अपने आप विशिष्ट होती है । उसमें कवि का प्रत्यक्ष दर्शन होता है ।

कवि नीलकण्ठ दीक्षित का निम्न पद्य संस्कृत-काव्य-शास्त्र में बहुचर्चित है:

यानेव शब्दान् वयमालपामः
यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः ।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः
सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥[२]

हम अपने विचारों को अभिव्यक्त करने में जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, दैनन्दिन जीवन के प्रयोग में जिन अर्थों को हम उल्लिखित करते हैं, कवि उन्हीं शब्दों और अर्थों को एक विशिष्ट भव्य विन्यास द्वारा प्रस्तुत हम सबों को आकृष्ट कर लेते हैं ।

---

१. शेक्सपिअर

२. नीलकण्ठदीक्षित : शिवलीलार्णव—१-१३

काव्य का सौन्दर्य शब्द और अर्थ की सम्मिति में है। भावानुकूल शब्द-विधान में काव्य की रमणीयता है। अतः काव्यलक्षण के प्रसंग में **पण्डितराज जगन्नाथ** का वाक्य— **रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्** सटीक है। काव्य में शब्दों की प्राणवत्ता उनकी अर्थवत्ता में है।

शब्द और शब्दार्थ में सहान्विति है। दोनों भाषा के मूलाधार हैं। शब्द शरीर है, तो शब्दार्थ उसमें सन्निहित प्राण। एक भौतिक है, तो दूसरा मानसिक। एक पुष्प है, तो दूसरा उस पुष्प का पराग। दोनों की एकान्विति ही काव्य है। कवि की प्रतिभा और उसके प्रयास का प्रतिफलन दोनों को एकान्वित करने में है।

अर्थ अथवा भाव काव्य का प्राण अवश्य है,किन्तु अर्थाकर्षण शब्द के संचयन और सुनियोजन में ही है। किसी एक को दूसरे से पृथक् करना काव्यत्व का एकांशिक ग्रहण है। वागर्थ के ज्ञान में वाक् और अर्थ—शब्द और शब्दार्थ दोनों संपृक्त हैं। महाकवि कालिदास के शब्दों में

वार्गथाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ॥[१]

शब्द और शब्दार्थ की सहान्विति और सुप्रयुक्तता को ही वामन ने शब्द-पाक की संज्ञा दी है।

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥[२]

शब्द-सुनियोजन इतना स्थिर होता है कि उसका रूपान्तरण संभव नहीं है। रूपान्तरण करने से काव्य का विशिष्ट अर्थ लुप्त हो जाता है। ऐसी रचना को वामन ने **शब्दपाक** की संज्ञा दी है। उसी वाणी का **मधुवर्षण** होता है। उनकी मान्यता है:

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥[३]

---

१. कालिदास : रघुवंश सर्ग— १-१

२. वामन : काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति— पृ० १२

३. वामन : वहीं, पृ० ५

निष्कर्ष, काव्य में भावगत और रूपगत दोनों चमत्कार एकान्वित हैं। उत्तम काव्य में अर्थ-सौन्दर्य और शब्द सौन्दर्य-दोनों ही समान रूप से आवश्यक हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्री ए. सि. ब्रैडले की भी तथाविध मान्यता है : **"जिस प्रकार प्राण-स्पन्दित रक्त को उसमें अन्तर्निहित प्राणों से पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार हम काव्य-विषयक पदार्थ को उसके रूप से अलग नहीं कर सकते हैं। ये दोनों सम्पृक्त होकर ही एकायन हैं।**[१] लोकव्यवहार में प्रयुक्त शब्द और अर्थ कवि की चमत्कारपूर्ण भंगिमा से कथित होकर काव्यत्व ग्रहण करते हैं। भोज की शब्दावली में इसे **काव्यपाक** कह सकते हैं। शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार में काव्यकला का वैभव रूपायित है। अतः भाषा और काव्य के शास्त्रीय विवेचन में काव्यशास्त्रीय और भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप अध्ययन अपेक्षित है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तथाविध प्रयास किया जाएगा।

मुनि भारत ने ठीक ही कहा है :

वाङ्मयानीह शास्त्राणि
वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद् वाचः परं नास्ति
वाग् हि सर्वस्य कारणम्॥[२]

शास्त्र वाङ्मय ही होते हैं। सभी शास्त्र वाङ्निष्ठ हैं। अतः शब्द से ऊपर कुछ नहीं है; शब्द ही सबका कारण है।

• • •

१. ए. सि. ब्रैडले : पोएट्री फॉर पोएट्रीज़ सेक, पृ० १५
२. भरत : नाट्यशास्त्र—१४-४

द्वितीय अध्याय

भाषा और शब्दार्थ-विवेचन

यह निर्विवाद तथ्य है कि भाषा में अर्थ-द्योतन सार्थक शब्दों से होता है। इसीलिए सामान्यतः सार्थक शब्दों को भाषा कहते हैं। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि वाक्य से पृथक् शब्दों का अस्तित्व नहीं है। शब्द की शक्ति **समुदाय** अथवा वाक्य में निहित है। **वाक्यपदीयकार भर्तृहरि** की मान्यता है—

> यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम्।
> तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता॥[1]

शब्द-शक्ति मात्र संहति में होती है। शब्द समुदाय में स्थित होते हैं। शब्द-संयोग में ही उनकी सार्थकता, प्रयुक्ति, रोचकता और चमत्कार का आविर्भाव होता है। भाषाशास्त्री **शेस** के शब्दों में हम कह सकते हैं : **भाषा वाक्य से आरम्भ होती है, एकाकी शब्दों में नहीं। शब्द केवल कोशकारों के लिए होते हैं। कोशकार भी शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके अर्थावधारण के लिए वाक्य का प्रयोग करते हैं।**[2]

शब्द की स्थिति वक्ता के मस्तिष्क से स्वतंत्र नहीं होती है। वह वाक्य-रूप संहिता में पूर्ण अर्थवत्ता रखता है। शब्द वाक्य-प्रसंग से असंबद्ध होकर मात्र भाव खण्ड का द्योतक होता है, और भाव-खण्ड वास्तविक नहीं होता है। हमारा विचार वाक्य में ही पूर्ण होता है, शब्दों में नहीं। **चिन्तन जो आभ्यन्तरिक भाषा है, वाक्य**

---

१. हरि : वाक्यपदीय— २-३०

२. शेस : इन्ट्रोडक्शन टु द साइन्स ऑफ लैंग्वेज़, खण्ड १, पृ० १११

से संपृक्त है। वाक्य ही भाषा का चरमावयव है। दो व्यक्ति जब कभी वार्तालाप करते हैं, तो वाक्य में ही अपना विचार-विनिमय करते हैं। हम वाक्य में ही चिन्तन करते हैं, वाक्य में उसे व्यक्त करते हैं। हम वाक्य द्वारा ही भाषा सीखते हैं और वाक्य में ही हम बोलते हैं।[1]

स्पष्ट है कि हमारे विचारों की अभिव्यक्ति में शब्द स्वतंत्र नहीं है। वाक्य से असंबद्ध शब्द भाव-खण्ड को व्यक्त कर अपूर्ण रह जाते हैं। जब हम अपने मित्र को पत्र लिखते हैं, तो पत्र के सभी शब्द भाषा के शब्दकोश में प्राप्त हैं। किन्तु पत्र के कोरे कागज के साथ कोश को संलग्न कर हम अपने विचार का आदान-प्रदान नहीं कर सकते हैं। शब्द पूर्ण विचार-विनिमय में असमर्थ है। ऐसे शब्दों की स्थिति सम्प्रेषणार्थ कल्पनामात्र है।

कोश के शब्द विचार-बोध की दृष्टि से निष्प्राण और निरर्थक होते हैं। किन्तु हमारे दैनन्दिन व्यवहार के शब्द जीवन्त और स्फूर्त होते हैं। भाषा के प्रयोजन सप्राण शब्दों में ही सम्पन्न होते हैं, क्योंकि ऐसे शब्दों का प्रयोग वाक्य में ही होता है। विचार-बोध सम्पृक्त पदोच्चय में ही संभव है। जैसा कि वात्स्यायन ने अपने **न्यायभाष्य** में कहा है **पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ।**[2]

वाक्य में हम शब्दों को पृथक्-पृथक् रखकर लिखते हैं। उससे लगता है कि शब्दों का अस्तित्व स्वतंत्र है। किन्तु ऐसी धारणा तत्त्व-संगत नहीं है। विचार की अभिव्यक्ति स्वतंत्र शब्दों में नहीं हो सकती। वाक्य में प्रयुक्त पदोच्चब के मध्य योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति अपेक्षित हैं। **वह्निना सिञ्चति**, वाक्य संभव नहीं है, क्योंकि पदों में योग्यता का अभाव है। इसी प्रकार **रामो ग्रामम्** कहने पर वाक्यार्थ-बोध के पूरक पद की आकांक्षा बन जाती है। तभी **रामो ग्रामं गच्छति** वाक्य बनता है। वाक्य में प्रयुक्त पदों में आसत्ति भाव अपेक्षित

---

१. भाँद्रिएस : एत्रोदुक्शियों लिंग्विस्तिकद्यु क्रस्त्वार– पृ० ६४

२. वात्स्यायन : न्यायभाष्य–२-११-५५

है । अतः आचार्य विश्वनाथ ने वाक्य की परिभाषा दी है : **वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।**[१]

भाषिक सम्प्रेषण की दृष्टि से पदों में वाक्य का विभाजन युक्ति संगत नहीं है । हरि की मान्यता है : जब भाषा के प्रतीक रूप शब्द ही विभक्त नहीं हो सकते, तब वाक्य का विभागीकरण किस प्रकार संभव है । अविवेकी अविद्वान् ही वाक्य का विभाजन करते हैं ।

शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति ।
विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते ॥[२]

वाक्य के साथ भिन्न भिन्न शब्दों का सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार शब्द के साथ शब्दांशों और अक्षरों का होता है । शब्दों को हम विभिन्न ध्वनियों में व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु यह ध्वनिवेत्ता का काम है, वक्ता का नहीं । इस प्रकार **अरसिके कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख, शिरसि मा लिख !** वाक्य को सात पदों में विभक्त कर हम पदनिर्माण की व्याख्या कर सकते हैं । इससे व्याकरण का कार्य निष्पादित हो सकता है, वक्ता का नहीं । वक्ता के लिए वाक्य ही विचार की अभिव्यक्ति का पूर्ण प्रतीक है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वाक्य ही विचार-विनिमय की चरम अभिव्यक्ति है ।

वाक्य में अपने मनोराग को व्यक्त करने के लिए वक्ता शब्दविशेष पर बलाघात देकर उच्चारण करता है । वाक्योच्चारण में मनोराग निहित ही रहता है । अर्थभेद से बलाघात में भी भेद उत्पन्न होता है । **पठिष्यति** वाक्य में पूर्वार्द्ध पदांश पर बलाघात से सामान्य भविष्यकालिक पठन क्रिया का बोध होता है । किन्तु संलग्न पदिम पर बलाघात से प्रश्नमूलक वाक्यार्थ बन जाता है ।

इस प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि भाषिक दृष्टि से वाक्य की दीर्घता अथवा लघुता गौण है । वाक्य लघु से लघुतम आकारिक हो सकता है । आवश्यकता

---

१. विश्वनाथ : साहित्यदर्पणम्,

२. हरि : वाक्यपदीय– २-३

इसकी है कि वाक्य से वक्ता का अभिप्राय, उसका मनोभाव श्रोता द्वारा पूर्णत: ज्ञात हो जाए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाषा का आरम्भ वाक्य में हुआ है, शब्दों में नहीं। वाक्यार्थ लेकर एकल शब्द वाक्यरूप ही होता है। हमारे चिन्तन का रूपायण वाक्य में ही होता है। चीनी भाषा के वैशिष्ट्य के प्रसंग में भाषाशास्त्री **स्टीयन्थल** की यह मान्यता कि **चीनी भाषा का लघुतम ऐक्य वाक्य है**।[१] युनानी दार्शनिक **प्लेटो** का **लोगोस** अथवा **महर्षि पतञ्जलि** का अभिमत **एकःशब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति** तभी सार्थक है, जब हम लोगोस तथा शब्द को वाक्यान्वय में ग्रहण करें।

तथापि यह भी स्वीकार्य है कि शास्त्रानुशीलन में शब्दज्ञान स्वायत्त और आत्मानुशासित है, सिद्धान्त एक बात है और व्यवहार दूसरी। भाषा में शब्द का महत्त्व व्यावहारिक है। जब हम कभी किसी नवीन अथवा विदेशी भाषा के ज्ञानार्जन के लिए प्रयत्न शील होते हैं, तो प्रथम प्रयास स्वभाषा के आधार पर शब्द का ही अभ्यास करते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से अर्थबोध के लिए हम शब्द-प्रयोग करते हैं। उससे शब्द की व्यावहारिकता और उपयोगिता सिद्ध है।

शब्द और शब्द-शक्तियाँ :

शब्द का मूल अर्थ है ध्वनि या आवाज। शब्द् धातु में घञ् प्रत्यय के योग से शब्द निष्पन्न है। **ध्वनन** परक शब्द व्यापक अर्थ रखता है। विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ प्राप्त हैं—प्राकृतिक ध्वनियाँ हैं, जैसे—मेघ-गर्जन, सिंहनाद, नदियों का कलकल निनाद, पक्षियों की चहक यन्त्रों से उत्पन्न यांत्रिक ध्वनि, आदि। प्राकृतिक ध्वनियाँ समरूपक होती हैं। प्राणियों के वाग्यन्त्र इतना नमनीय है कि उससे उच्चारित ध्वनियों में पार्थक्य स्वर-तरंगों द्वारा आता है। परिणामत: विभिन्न प्रकारों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

---

१. स्टीयन्थल : चाइनीज़ लैंग्वेज़– पृ० ११३

शब्द-निर्माण में ध्वनिम लघुतम इकाई है । वह अर्थहीन होती है । अर्थयुत ध्वनि-समाहार ही शब्द है, यथा-न (न् + अ), नद, नदन आदि । **शृङ्गारप्रकाश** में अलङ्कारशास्त्री भोज ने ठीक ही कहा है- **येनोच्चारितेन अर्थः प्रतीयते स शब्दः,** जिसके उच्चारण से अर्थ की प्रतीति हो, उसे शब्द कहते हैं ।

इस प्रकार भाषा में शब्द का प्रयोग अर्थबोध के लिए होता है । इसी में शब्द की व्यावहारिकता और उपयोगिता है । प्रश्न उठता है, यह ज्ञान किस प्रकार होता है । विद्वानों का कहना है कि शब्द का अर्थज्ञान रूढ़िसापेक्ष है । शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर अपनी **तर्कदीपिका** नामक पुस्तक में अन्नम्भट्ट का अभिकथन है : **अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः**—शब्द-शक्ति शब्द और अर्थ का वह सम्बन्ध है, जो शब्द के उच्चरित होने पर अर्थ को वक्ता अथवा श्रोता के मन में जाग्रत करता है ।[१] वही बोध शब्द का मूलार्थ है । शब्द मूलार्थ का ही संकेतक होता है । नागेश की मान्यता है कि जब तक वृत्तिज्ञान नहीं होता, तब तक शाब्दबोध संभव नहीं है । शाब्दबोध के लिए यह आवश्यक है कि उसका ज्ञान पूर्व में प्राप्त किया जाय कि अमुक भाषा में अमुक शब्द अमुक अर्थ का द्योतक है । वस्तुतः शब्द द्वारा पूर्वज्ञान का प्रत्यक्षीकरण होता है । हम निम्नलिखित आरेख द्वारा शब्द और शब्दार्थ के सम्बन्ध को स्पष्ट कर सकते हैं :

शब्द ———————— पूर्वज्ञान ———————— अर्थबोध

इस प्रकार शब्द के अर्थबोध के लिए पूर्वज्ञान की अनिवार्यता है ।

शब्द और शब्दार्थ-चिन्तन में प्रतीक की यथार्थता पर विचार करने में प्रवृत्त हूँ । प्रातःकाल का सुहावनसमय है । मैं अपने अध्ययन कक्ष में बैठा हूँ । तभी एक सुन्दर पक्षी कक्ष के वातायन के शिरोभाग पर बैठ, खगवाणी में गुट-गुटाता है । देखता हूँ, वह कपोत पक्षी है, चिरपरिचित, वाल्मीकि का क्रौञ्च पक्षी नहीं है । उसे हम अपनी मातृभाषा मैथिली में **परबा** कहते हैं बंगाली में उसे **पायरा** कहते हैं । इसके लिए हिन्दी में लोक-प्रचलित पर्याय **कबूतर** है । कपोत से कबूतर द्रविड़

---

१. अन्नम्भट्ट : साहित्यदर्पण की टीका से उद्धृत,(पि.भि. संस्करण) पृ० ३९

प्राणायाम द्वारा साधित माना जा सकता है। **तारकनाथ** ने अपने ग्रन्थ **वाचस्पत्यम्** में **को वायुः पोत इव यस्य सः कपोतः**—वायुपोत-जैसा कपोत है। पर हिन्दी की सजातीय भाषाओं के परबा, पायरा आदि नामकरणों में उसके पर अथवा पक्ष से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। भारतीय भाषाओं से बहुत दूर, किन्तु भाषिक उत्पत्ति लेकर संबद्ध, लैतिन जैसी रोमन भाषा में भी उस पक्षी के लिए **पिपियो** शब्द है, जो फ्रेञ्च भाषा में **पियोन, पिजोन** हो गया है। अंग्रेजी का **पिजिओं** फ्रेञ्च की उधारी है। इस प्रकार वस्तु एक है, उसके लिए विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रतीक प्रयुक्त हैं। नाम भिन्न हैं, अर्थ बोध एक ही है। **एकश्चार्थः, शब्दाः हि बहवः** स्पष्टतः भाषा में अर्थ लेकर **सममूल्यन** है, किन्तु अर्थ की अभिव्यक्ति में समरूपता नहीं है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से शब्द प्रतीक मात्र है जिससे वस्तु अथवा भाव का द्योतन होता है। वस्तु अथवा भाव निर्देश्य है और शब्द निर्देशक, किन्तु भाषिक प्रक्रिया में निर्देश्य और निर्देशक के मध्य चिन्तक का व्यक्तित्व है। उसके मानस-पटल पर निर्देश्य के प्रत्यक्ष दर्शन अथवा चिन्तन के फलस्वरूप निर्देश्य अंकित रहता है। वस्तु अथवा भाव यदि बिम्ब है, तो चिन्तक का भाव-बोध मूल बिम्ब का प्रतिबिम्ब है। स्पष्टतः शब्द प्रतिबिम्ब का निरूपक ही है; निर्देश्य के साथ शब्द का सम्बन्ध सहज अथवा प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस प्रकार शब्द और विषयवस्तु का सम्बन्ध नित्य नहीं है, इन दोनों का सम्बन्ध आपेक्षिक ही है।

स्पष्टतः शब्द द्वारा हम वस्तु को व्यक्त नहीं करते हैं। इस वस्तु के बिम्ब को शब्द के माध्यम से रूपायित करते हैं। वस्तुगत रूप बिम्ब है, उसका एक प्रतिबिम्ब हमारे मानस में होता है। शब्द-प्रतीक उसी मानस-बोध को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त है। इस प्रकार शब्द एक साधन मात्र है। उसमें अर्थ-संश्लेषण वक्ता अथवा श्रोता की मानसिक क्रिया है। **जगद् विख्यात भाषाशास्त्री पॉटर** ने इस मानसिक प्रक्रिया को वर्णक्रम उत्पन्न करने वाले समपार्श्वों की त्रिभुजात्मक रेखाकृति के सहारे स्पष्ट किया है, जहाँ वर्णनीय वस्तु अथवा बिम्ब, मानस बोध से

उत्पन्न उसका प्रतिबिम्ब तथा प्रतिबिम्ब का प्रत्यक्षक प्रतीक शब्द त्रिकोणीय रूपों में स्थित हैं। आरेख इस प्रकार प्रस्तुत है :[१]
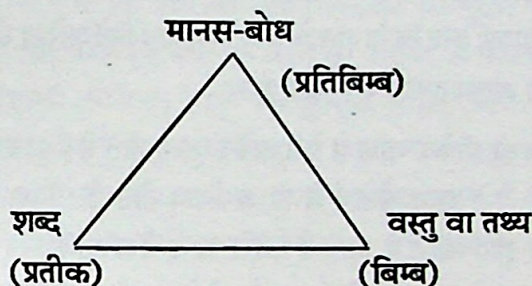
वस्तु का सम्बन्ध प्रतिबिम्ब से तथा प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध शब्द-प्रतीक से प्रत्यक्ष और स्पष्ट है। किन्तु शब्द और वस्तु का अप्रत्यक्ष या परोक्ष तथा अस्पष्ट है। वस्तुग्रहण में शब्द की विभिन्न वृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं। अत: शब्द और वस्तु के मध्य सपाट सरल रेखा नहीं है, प्रत्युत बिन्दुओं द्वारा वृत्तियों की प्रसृति अंकित है। जहाँ परोक्षता तथा अस्पष्टता निरूपित होती है। शब्द और मानसबोध तथा वस्तु और प्रतिबिम्ब के मध्य—स्पष्टता और प्रत्यक्षता के लिए सरल रेखाओं से दो भुजाएँ बनी हैं। विशिष्ट प्रतीक में अर्थग्रहण की विशिष्टता के साथ विविधता भी प्राप्त है।

यह स्वीकृत है कि अर्थग्रहण में सामूहिक स्वीकृति अथवा रूढ़ि-ज्ञान अपेक्षित है। जैसा कि भाषाशास्त्री स्टर्टेभैण्ट का कथन है: **किसी भी शब्द का अर्थ प्रकृति द्वारा आदिष्ट नहीं है, अपि तु, प्रत्येक शब्द का अर्थ सामाजिक स्वीकृति से प्रसूत है।**[२] भाषा में जो भी शब्द प्रयुक्त होते हैं, उनमें सांकेतिक अर्थ रहता ही है। अर्थ चित्तगत होकर परिस्फुट होता है और वह लोक-प्रचलित शब्द-संकेत द्वारा व्यक्त होता है। एतदर्थ उपर्युक्त आरेख का महत्त्व है।

---

१. पॉटर: मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स– पृ० १४१

२. स्टर्टेभैण्ट : लिंग्विस्टिक चैंज, पृ०

किन्तु यह भी स्वीकार्य है कि वस्तु-प्रतिबिम्ब-प्रतीक त्रिकोण से शब्दार्थ का सर्वांशिक व्याख्यान संभव नहीं है। मूर्त वस्तुओं के अतिरिक्त अमूर्त वस्तुओं, भावों और क्रियाओं पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता है। अतीन्द्रिय संज्ञा भाव, गुणीभूत विशेषण तथा क्रियाभाव के लिए वस्तुगत निर्देशारेख से अधिक उपयुक्त भावारेख की आवश्यकता बन जाती है।

साथ ही, प्रत्येक भाषा में ऐसे अनेक शब्द होते हैं जिनका अर्थ स्वतः गृहीत नहीं होता है; ऐसे शब्द सन्दर्भ में ही अर्थवान् होते हैं। निपात और विस्मयादि बोधक शब्द इसी कोटि में आते हैं। ऐसे शब्द वैयक्तिक अनुभूतियों को सूचित करने के लिए उद्गार के रूप में निसृत हैं। ऐसे शब्दों का प्रतिबिम्बन मानस-पटल पर संभव नहीं जँचता है। साथ ही, अध्यात्म-शास्त्रादि के वाक्य-शब्दों में तथ्य का अनुगमन शब्दोच्चारण के पूर्व होता है। वैज्ञानिकों की मूलोपलब्धि में पूर्वज्ञान की प्रयोजनीयता सन्दिग्ध है। सर्वोपरि आपत्ति विषयवस्तु के आरेख को लेकर है कि मानस-बोध का प्रतिबिम्बन मौलिक चिन्तन की अनुभूति से खण्डित हो जाता है। विषयवस्तु, प्रतिबिम्ब और प्रतीक तीनों को एक धरातल पर नहीं रखा जा सकता है। शब्द कारण है, उद्दीपन है। विषय वस्तु, प्रस्तुत प्रसंग में कपोत, उद्दीप्ति का कारण है शब्द विशेष का उच्चारण वक्ता द्वारा शाब्दिक प्रतिवेदन है। प्रतिबिम्बन अथवा अर्थग्रहण एक संमिश्रित मानसिक प्रक्रिया है।

तथापि यह स्वीकार्य है कि पॉटर द्वारा निरूपित स्पेक्ट्रम अथवा वर्णक्रम उत्पन्न करने वाले प्रिज्म या समपार्श्वों की रेखानुकृति का महत्त्व व्यावहारिक है। प्रचलित-अप्रचलित, मुख्य-गौण, लाक्षणिक-अलाक्षणिक, संकुचित-व्याकुचित, स्वाभाविक आलङ्कारिक आदि अर्थवैशिष्ट्यों के ग्रहण में शब्द और विषयवस्तु के स्वचालित सम्बन्ध का महत्त्व अनुपेक्षणीय है। भाषा में शब्द का प्रयोजन अर्थोन्मेष है। यह निर्विवाद तथ्य है कि काव्य का माध्यम भाषा है, जिसे हम विभिन्न रूपों, अर्थों तथा ध्वनियुक्त शब्दों का पुञ्ज अथवा निकाय कह सकते हैं। शब्द और शब्दार्थ में भावानुकूल स्वनिमों का निजी-महत्त्व है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से स्वनिम भाषा की अर्थहीन लघुतम इकाई है। तथापि अधिकांश शब्दों में न्यूनतम

प्रभेदक के रूप में स्वनिम-अर्थग्रहण में सहायक होता है। संस्कृत के **मन्दं-मन्दं** अथवा **शनैः शनैः** तथा **झटिति** शब्दों में म्, श्, झ्, ट् आदि स्वनिम अर्थसंगत हैं।

यह मानना होगा कि कवि की भावाभिव्यक्ति का मुख्य साधन शब्द है, जिसके समुचित और आकर्षक प्रयोग में कवि की प्रतिभा का प्रतिफलन होता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्री लॉजिनस ने इसे **पेरी हुपसुस** अर्थात् उदात्त रचना की संज्ञा दी है। उनके मतानुसार **पेरी हुपसुस** उपयुक्त शब्दों के शक्ति-संघात में निहित है। साथ ही, काव्य के रूप-चारुत्व में शब्दध्वनि संगीत-लहरी के समान प्रभावोत्पादक होती है। इसके लिए लॉजिनस ने सेमेटा या अर्थश्लेष के भाषा-वैशिष्ट्य की उपयोगिता मानी है।

यही बात अनुकार शब्दों पर लागू होती है। यहाँ भाषा के विशिष्ट रूप का विशिष्ट प्रत्यक्षीकरण प्राप्त है। अनुकार शब्द विशिष्ट भावाभिव्यक्ति के अन्यतम साधन हैं।

अनुकार शब्दों को भाषा के विकास में प्रोफेसर मैक्समूलर ने महत्त्वहीन माना। उपहास भरे शब्दों में उन्होंने कहा : **अनुकार सिद्धान्त मुर्गियों की कुकुरु ध्वनि अथवा पक्षियों की चहक तक लागू हो सकता है। किन्तु पशु-पक्षियों के ध्वनि-जगत् से बाहर उसका महत्त्व नहीं है। इस प्रकार के शब्द कृत्रिम एवं निष्प्राण हैं, ये जिसका अनुकरण करते हैं उससे परे कुछ भी व्यक्त करने में असमर्थ हैं।**[1] किन्तु भाषा-विज्ञानी जेस्पर्सन ने अनुकार शब्दों के भाषिक चमत्कार को लेकर कहा: **अनुकार शब्द ध्वनि और अर्थ के मध्य एक स्वाभाविक योग सूत्र है। ये मानवीय वाग्यन्त्रों द्वारा अन्य प्राणियों की आवाज के अनुकरण में उत्सारित ध्वनियों के ऐसे प्रतीक शब्द हैं, जहाँ अन्तः और बाह्य उद्दीपकों की सहज प्रतिक्रिया है। ऐसे शब्द यथार्थ हैं और प्रत्यक्ष अनुकरण पर निर्मित हैं। लाक्षणिक वृत्ति से इस प्रकार के शब्द अशोधित होकर भी मानवीय भाषा में सूक्ष्म मानसिक प्रभावों के द्योतक बन गये हैं।**[2]

---

१. मैक्समूल : लाइफर-पृ० २९७

२. जेस्पर्सन : लैंग्वेज– पृ० ४१४

वस्तुतः भावाभिव्यक्ति में अनुकार शब्दों की निःसर्गता निस्संदिग्ध है। भाषा सर्वोपरि एक कला है, प्रतीकीकरण की कला। अनुकार शब्द भाषा के अन्य स्रोतों से प्राप्त स्वैराचारी शब्दों से अधिक अर्थवह और ध्वन्यात्मक होते हैं। ये ऐसे शब्द हैं कि इनसे जितना सुना उससे अधिक जाना कि अभिव्यञ्जना होती है। इन शब्दों में संवेदनशीलता रहती है और इसके चलते हमारे जीवन में ऐसे शब्द सत्य प्रतीत होते हैं। ये शब्द शब्दचित्र हैं, भाषा की कृत्रिम परिपाटी रूपी विस्तृत मरुभूमि में नैसर्गिक सुवासित कुसुमों के सदृश परिस्फुटित होते हैं। ये शब्द अपने आप ही काव्य हैं।[१] अनुकार शब्दों के भाषिक महत्त्व का विवेचन लेखक ने अन्यत्र अपने शोध-निबन्ध 'इकोइज्म इन सन्ताली लैंग्वेज' में किया है।

भाषाभिव्यञ्जक अनुकार शब्दों के उदाहरणार्थ संस्कृत में रावणकृत शिव ताण्डवस्तोत्र की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, जिनमें अनुकार शब्दावलि का प्रयोग भावानुकूल है और इन शब्दों में भक्तिभावना का निरूपण जिस रूप में हुआ है, वह भाषा के प्रयत्नज शब्दों में संभव नहीं है :

जटाटवी-गलज्जल-प्रवाह-पावितस्थले
गलेऽवलम्ब्य लम्बितां भुजङ्गतुङ्ग-मालिकाम्।
डमड्-डमड्-डमड्--- डमन्निनादवड्डमर्वयं
चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम्॥

गलत्, डमड् जैसे अनुकार शब्दों का चमत्कार चण्ड-ताण्डव के वर्णन में कितना आकर्षक और विषयानुकूल है।

इसी प्रकार, हिन्दी के महाकवि प्रसाद ने प्रलय के निरूपण में धू-धू जैसे अनुकार-प्रयोग से प्रलय को साकार कर दिया है।

---

१. मुनीश्वर झा : इकोइज्म इन सन्ताली लैंग्वेज, पृ० १६३, ऑफ इण्डिया ओरियन्टल कॉन्फ्रेरन्स, गोहाटी द्वारा प्रकाशित शोध-पुस्तिका, १९६६

> धू-धू करता नाच रहा था
> अनस्तित्व का ताण्डव-नृत्य
> आकर्षण विहीन विद्युत्कण
> बने भारवाही थे भृत्य ॥[१]

सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि शब्द भाषा के प्रकृत रूप होते हैं। अर्थ-विचार लेकर भाषा के शब्दों में अनेक संभावनाएँ रहती हैं; जिनसे अर्थ की विविधता और साथ ही, सुस्पष्टता आती है। अर्थ ही शब्द का प्राण है, और प्रयोग से प्राण स्पन्दित होता है। शब्द और अर्थ कभी स्थिर अथवा एकरूप नहीं रहते हैं। भाषोत्पत्ति के साथ प्रत्येक शब्द स्वतः प्रच्छन्न अर्थों का पुञ्ज बन गया है। अनेकार्थता—**पोली सेमी**-भाषा का मुख्य प्रतिमान है। उसका उपयुक्त **संचयन कवि की कलात्मकता और प्रतिभा** का निकष है।[२]

भाषा के शब्दों का मूल प्रयोजन सम्प्रेषण है, यह तथ्य कतिधा कहा गया है। अनन्त अर्थ-सम्प्रेषण में मानव के साथ शब्द-निर्माण की सीमा है। अतः एक शब्द से एकाधिक अर्थों की अभिव्यञ्जना शब्द-प्रयोग में स्वाभाविक कल्प है। विभिन्न प्रसंगों में एक ही शब्द विभिन्न अर्थों का द्योतक हो जाता है। परिणामतः शब्द अनेक प्रच्छन्न अर्थों का संवाहक हो जाता है। सार्थकता की वृद्धि को लेकर शब्द में चमत्कार उत्पन्न होता है। शब्द स्फूर्तिमय हो जाता है। तब शब्द एक ऐसा केन्द्र अथवा गुच्छ बन जाता हैं जिसमें अनेक अर्थ रहते हैं। समझिए, **शब्द अर्थाकाश हैं, जहाँ वक्ता अथवा श्रोता का मन आलोक क्रीड़ा करता है।**[३]

इस प्रकार शब्द में मूलार्थ का संकेत है, तो वहीं क्रमिक गौणार्थ होते हैं; जिनमें मुख्यार्थ स्थूल से सूक्ष्म, मूर्त से अमूर्त भावों को व्यक्त करते हैं। इस अर्थ-प्रक्रिया के लिए भारतीय काव्यशास्त्र में तीन मुख्य वृत्तियाँ मानी गई हैं।

---

१. जयशंकर प्रसाद : कामायनी महाकाव्य, चिन्तासर्ग- पृ० २०

२. ए.के. गोल्डबर्ग : द वन्डर ऑफ वर्ड्स– पृ० २६३

३. ए.के. गोल्डबर्ग : वहीं, पृ० २६४

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। उत्तरकाल में मीमांसकों ने तात्पर्य के ऊपर बल दिया। अभिधा सांकेतिक वृत्ति है, भाषा की मूल वृत्ति। किन्तु भाषिक प्रयोग में अभिधा से अर्थ की समग्रता व्याख्यात नहीं होती है। अत: अन्य वृत्तियों की आवश्यकता हो जाती है। पश्चिमी भाषिकी में अभिधा को **डिनोटेशन** अथवा वाच्यार्थ कहते हैं। अभिधेतर शक्तियों को **कॉनोटेशन**-व्यङ्ग्य या पारम्परित कहते हैं। प्रथम मूलार्थ है, द्वितीय गौण। शब्द का प्रयोग अर्थ बोध के लिए होता है। अर्थ-बोध कार्य है। प्रत्येक कार्य में तीन तत्त्व विद्यमान हैं : कारण, व्यापार और कार्य। कारण से व्यापार उत्पन्न होता है और व्यापार से फल की प्राप्ति होती है, यही शाश्वत नियम है। शब्दार्थ-बोध या शाब्द-बोध फल है। शब्द कारण है, शब्द-शक्ति के परामर्श से पदज्ञान से जन्य पदार्थोपस्थिति व्यापार है। यह शक्ति शब्द में विद्यमान रहती है। इस शक्ति अथवा व्यापार को शब्द-शक्ति कहते हैं। शब्द-शक्ति को लेकर भर्तृहरि का कथन है :

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।।[१]

जिस प्रकार नेत्रादि इन्द्रियों की विषय-ज्ञान की योग्यता अनादि है, उसी प्रकार शब्दों का अर्थ से सम्बन्ध और अर्थ-द्योतन की योग्यता शब्दों में अनादि है। अर्थ-ज्ञापन की योग्यता ही शब्द की शक्ति कही जाती है और इसी शक्ति को अभिधा की संज्ञा दी जाती है।

स्पष्टत: शब्द में अर्थ की सहान्विति है। दोनों के बीच का सम्बन्ध कारण-कार्य का होता है। हम वाग्यन्त्रों से शब्दों का उच्चारण करते हैं, श्रोता कानों से सुनता है। स्नायुमण्डल से गृहीत होकर ध्वनिरूपक शब्द संकेतित अर्थ में गृहीत होता है। इस प्रकार शब्द का मूलार्थ संकेतित है।

संकेत एक तरह से निर्देश है। किसी वस्तु को दिखाकर कहा जाता है कि **उस वस्तु का नाम यह है अथवा इस नाम की वस्तु यह है**, इस प्रकार के निर्देश

---

१. भर्तृहरि : वाक्यपदीय– ३-३-२९

को संकेत कहते हैं । साक्षात् संकेत से जिस अर्थ का ग्रहण होता है, वही मुख्यार्थ है । मुख्यार्थ का अभिधान करने वाला शब्द वाचक है और अर्थ वाच्यार्थ । आचार्य विश्वनाथ के वाक्य हैं :

वाच्योऽर्थः अभिधया बोध्यः ।
तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।।[१]

संकेतग्रहण अभिधा है, उसी से वाच्यार्थ प्राप्त होता है । आचार्य मम्मट की कारिका है :

तत्र सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ।।[२]

इसकी कारिका में इसका यों व्याख्यान है :

इहागृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थ-विशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।[३]

जहाँ संकेतग्रहण नहीं होता, वहाँ शब्द की अर्थ-प्रतीति नहीं होती है । अतः शब्द संकेत की सहायता से ही अर्थ को प्रतिपादित करता है । जिसका जहाँ बिना व्यवधान के संकेतग्रहण किया जाता है, वह उसका वाचक है ।

अभिधा शब्द का पहला व्यापार है । दैनन्दिन जीवन के अधिकांश शब्द अभिधेय होते हैं । वाच्यार्थ की सामाजिक स्वीकृति उनका प्रबल आकर्षण है । शब्द के उच्चारण के साथ तत्काल जो अर्थगत प्रतीति होती है, वह अभिधा से ही होती है, न्यायदर्शन में कहा गया है—

सामयिकः शब्दार्थसम्प्रत्ययः ।[४]

---

१. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण– २-११,१२

२. मम्मट : काव्यप्रकाश, २-कारिका– ७

३. मम्मट : वहीं, वृत्ति, (२-७), पृ० ५९

४. न्यायदर्शन–७-२-२०

उपर्युक्त वृत्तिज्ञान को शक्तिग्रह अथवा शक्ति-ज्ञान कहा जाता है। इस शक्तिग्रह में व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति और सिद्धपद का सान्निध्य ग्राहक माने गये हैं। मुक्तावली का प्रसिद्ध पद्य है :

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥[१]

परमलघुमञ्जूषा के नामार्थ विचार के प्रसंग में तथाविध वाक्य प्राप्त है :

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य धीराः॥[२]

इन सभी ग्राहकों के मूल में लोकव्यवहार है। शब्दार्थ-ज्ञान में किसी वस्तु के परिचय के लिए व्यवहार ही शक्तिग्रह का मुख्य कारण है। संस्कृत अलङ्कार शास्त्रियों की मान्यता रही है कि भाषा शिक्षार्थी शिशु आवाप, उद्वाप और अन्वय-व्यतिरेक की पद्धति से वयस्क के व्यापारों को देखकर अर्थज्ञान प्राप्त करता है। **आवापोद्वापाभ्यां शास्त्रकृतकल्पिताभ्यां तत्तत् पदशक्तिग्रह इत्याहुः**। आवाप का अर्थ होता है ग्रहण, पदान्तरं प्रक्षेप अर्थात् वाक्य में नवीन शब्द का संमिश्रण। उद्वाप विद्यमान पद का परित्याग है। अन्वय का अर्थ है, जो अर्थ उससे संबद्ध है और व्यतिरेक में उसकी विच्छिन्नता प्राप्त होती है। **तत्सत्त्वे तत्सत्ता तदसत्त्वे तदसत्ता**—अर्थात् जिसके रहने से उसकी सत्ता हो और जिसके न रहने से उसकी असत्ता। इस पारिभाषिक शब्दावलि के स्पष्टीकरणार्थ निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

रूढ़ शब्दार्थ के अर्जन में तीन व्यक्ति होते हैं। अलङ्कारशास्त्रियों ने उन्हें उत्तमवृद्ध, मध्यमवृद्ध और अधमवृद्ध की संज्ञाएँ दी हैं। प्रसंगानुसार इन तीन को शिक्षक, शिक्षित और शिक्षार्थी कहना अधिक संगत होगा। भाषावित् शिक्षक ने शिक्षित से कहा—**गामानय** गाय को लाओ। शिक्षित पशुविशेष को लाता है। वहीं शिक्षार्थी शिशु देखता है। तत्पश्चात् शिक्षक ने कहा : **अश्वमानय**, घोड़े को

---

१. मुक्तावली- पृ० ११५

२. परमलघुमञ्जूषा, नामार्थविचार- पृ० १०९

लाओ। तब शिक्षित घोड़े को लाता है। शिक्षार्थी देखता है कि **आनयन** क्रिया समान है, किन्तु वाक्य-निर्देश से दो भिन्न सास्नादियुक्त पशुओं का आनयन होता है, एक गाय है और दूसरा घोड़ा। आवाप और उद्वाप के सहारे दो भिन्न वाक्यार्थ गृहीत हैं। अन्त में, शिक्षक कहता है—**गां बधान** गाय को बाँधो। अब आनयन क्रिया के स्थान पर बन्धन क्रिया होती है। इस प्रकार गाय, घोड़ा, आनयन, और बन्धन शब्दों का अर्थज्ञान शिक्षार्थी को होता है। उसके लिए विभिन्न संकेतक शब्द विभिन्न अर्थों के प्रतीक हो जाते हैं।

यह स्वीकार्य है कि दैनन्दिन भाषिक प्रयोग में विचार-विनिमय के लिए वाचक शब्दों के मुख्यार्थ की प्रधानता रहती है। इसमें भाषा की निर्देशपरकता सिद्ध है। भाषा के सामान्य प्रयोग में अधिकांश शब्द वाचक ही होते हैं। किन्तु कालान्तर में रूढ़ि-सापेक्ष शब्द स्थिर हो जाते हैं और ये भाषिक निर्माण की सीमता के चलते एकाधिक प्रच्छन्न अर्थों के द्योतक हो जाते हैं। विभिन्न अनिवार्यताओं के प्रभावित मानव-मन में विभिन्न प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनके प्रकाशन में वक्ता प्रत्यक्ष रूप को छोड़कर परोक्षरूप का आश्रय लेता है। रूढ़ि अथवा लोक प्रचलन के चलते शब्दार्थ रूढ़ अथवा निश्चित बन जाता है, जिसमें भावाभिव्यक्ति की पूर्ण संभावना नहीं रह जाती है। एतदर्थ वक्ता अपने मनोभाव को पूर्ण रूप में अभिव्यक्त करने के लिए अभिधेतर शक्तियों का उपयोग करता है। अर्थ-चमत्कार के लिए अभिधेतर शब्द-शक्तियों की उपयोगिता असन्दिग्ध है। प्रथम सहज शक्ति है, अपर उद्‌भावित। एक सहज है तो दूसरी पारम्परित। अभिधा स्वाभाविक वृत्ति है। प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने इसे ईश्वरेच्छा से उत्पन्न माना है। इसके विपरीत अभिधेतर शब्द-शक्तियों को मनुष्य द्वारा उद्‌भावित अथवा आरोपित माना है।

सा शब्दस्यार्पिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षण नाम।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से अभिधा शक्ति प्राथमिकी शक्ति है, तो अभिधेतर शक्तियाँ पारम्परित या गौण। शब्द प्रतीक है, उसमें हम अपना मनोभाव प्रकट करते हैं। मनोगत भाव बाह्य वस्तुओं के परिणमन का परिणाम होता है, उनका

अविकल रूपाधान नहीं । प्रतीक से वस्तु का सम्बन्ध प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष अथवा प्रसंगगत होता है । इसलिए मनोभाव को शब्द द्वारा व्यक्त करते समय अभिधेतर अर्थों का प्रसार रहता है । यहाँ सन्दर्भ-क्षेत्र की विस्तृति रहती है जिसमें प्रसार, संकोच अथवा आदेश होता है । इस प्रकार अभिव्यक्ति **क्रिया-सापेक्ष न रहकर वक्ता के स्वैच्छिक प्रयोग पर निर्भर करती है और प्रयोग के उपरान्त प्रसंग-विचार को लेकर शब्दार्थ का अनुमान लगाया जाता है । प्रयोग-प्रक्रिया लेकर शब्द में सूक्ष्मार्थ उत्पन्न होते हैं, जिनमें श्रोता के लिए उतना महत्त्व नहीं रखता है । जितना संभावनाओं का आग्रह ।**[१] इस प्रकार शब्द में अभिधेतर शक्तियाँ प्रयोजन वश सक्रिय होती हैं । सूक्ष्मार्थ के अन्वेषण में अर्थ जिस परिस्थिति में उपयुक्त प्रतीत होता है, उसका ग्रहण होता है ।

फलतः अर्थ-प्रतीक शब्दानुगत अर्थों के निकाय का प्रतिनिधित्व करता है, जिनके लिए शब्द-प्रयोग होता है । यह अर्थनिर्भरता प्रसंग से सिद्ध होती है । इन अर्थों में एक अर्थ केन्द्रगत अथवा केन्द्रीय होता है जिससे एकाधिक अर्थ विकीर्ण अथवा साधित होते हैं । यही अर्थ-विकिरण लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का कारण है । **सरलतम अर्थ केन्द्र में स्थित रहता है और साधित अर्थ उस केन्द्रीय अर्थ से निर्गत होकर प्रत्येक दिशा में विकीर्ण होते हैं, जिस प्रकार सूर्य की किरणें चतुर्दिक् विकीर्ण होती हैं ।**[२]

इस प्रकार मूल अर्थ से गौण अर्थों की अपेक्षा भाषा में, विशेषतः काव्य में, होती है । इस प्रसंग में आचार्य विश्वनाथ की कारिका है—

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मताः ।
वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।।[३]

तत्पश्चात् लक्षणा की परिभाषा दी गई है:

---

१. हायाकावा : लैंग्वेज इन थौट एण्ड ऐक्शन– पृ० १५६

२. जे.बि.ग्रीनबाउ : वर्डस् एण्ड देअर वेज इन इंग्लिश स्पीच- पृ० २६०

३. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण– २—१०,११

मुख्यार्थबाधे तद्‌युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥[१]

मुख्यार्थ के बाध अर्थात् व्याघात होने पर रूढि अथवा प्रयोजन लेकर जिस शक्ति से मुख्यार्थ से भिन्न, किन्तु संबद्ध, अर्थ लक्षित होता है, उस शक्ति को लक्षणा कहते हैं। वह अर्पिता अथवा पारम्परिक शक्ति है। उससे प्राप्त अर्थ लक्ष्यार्थ कहा जाता है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में लक्षणा के दो प्रसिद्ध उदाहरण हैं : **कलिङ्ग साहसिकाः** तथा **गङ्गायां घोषः**। कलिङ्ग से कलिङ्गवासी की लक्षणा है। यहाँ रूढ़िलक्षणा है, क्योंकि कलिंग शब्द कलिंगवासी में रूढ हो गया है। मुख्यार्थबाध है, साथ ही मुख्यार्थ योग है, लक्ष्यार्थ में रूढ़ि है। इसी प्रकार **गंगायां घोषः** गंगा में बथान या गाँव है, यहाँ मुख्यार्थ बाध, क्योंकि गंगा में गाँव की स्थिति संभव नहीं है। सामीप्य सम्बन्ध लेकर गंगा से गंगातट के अर्थ में मुख्यार्थ योग है। लक्ष्यार्थ की प्राप्ति शैत्य अथवा पावनता के अर्थद्योतन का प्रयोजन लेकर है। इसी प्रकार **जंगल में बाघ है** वाक्य में बाघ का मुख्यार्थ बाघ नहीं है, अर्थबोध में मुख्यार्थ बाघ नहीं है। किन्तु **बालक बाघ है** वाक्य के बाघ मुख्यार्थ बाध है। यहाँ बाघ का अर्थ—बाघ के वीरत्व-गुण के लक्ष्यार्थ को लेकर है।

स्पष्टतः लक्षणा मुख्यार्थ का व्यापार है। शब्द और लक्षणा का सीधा सम्बन्ध है। उनके मध्य वाच्यार्थ स्थित है। इस प्रकार लक्षणा मुख्यार्थ की वृत्ति है, गौणत्व से इसे शब्द की वृत्ति कही गई है। इसीलिए नैयायिकों ने लक्षणा को गौणी वृत्ति की संज्ञा दी है। उनकी दृष्टि में निर्बाध वाक्यार्थ प्रतीति में अभिधा शक्ति है और सबाध वाक्यार्थ प्रतीति में लक्षणा है। गुण वृत्ति से ही लक्षणा होती है। अतः **नैयायिकों ने गौणी वृत्ति और लक्षणा को एक ही माना है**। इनकी दृष्टि में अभिधा और लक्षणा दो ही शब्द-वृत्तियाँ हैं। वस्तुतः लक्षणा को अभिधेय अर्थ की वृत्ति कहना अधिक संगत है, कारण लाक्षणिक अर्थ वाक्यार्थ से प्राप्त है, जिसका

---

१. विश्वनाथ : वहीं—२-१४

स्रोत मुख्यार्थ है। इसीलिए इसे **सान्तरार्थनिष्ठ**—साक्षात् अर्थनिष्ठ और परम्परा से शब्दनिष्ठ माना गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि लाक्षणिक प्रयोग से शब्दार्थ में चमत्कार उत्पन्न होता है। जब अभिधा वस्तु, व्यक्ति, भावादि विषय का तात्कालिक निर्देश कर विरत हो जाती है। तत्पश्चात् लक्षणा वस्तु, व्यक्ति और भाव से संबद्ध होकर अपनी शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से संबद्ध विशिष्ट अर्थ का द्योतन करती है। किन्तु लक्षणा की भी एक सीमा होती है। मुख्यार्थ योग से लक्ष्यार्थ को लक्षित कर लक्षणा भी निष्क्रिय हो जाती है। तब लक्षणा के प्रयोजन को लेकर तीसरी शक्ति सक्रिय हो जाती है। वह शक्ति व्यञ्जना है। आचार्य मम्मट ने इस प्रसंग को लेकर कहा है :

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥[१]

अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त अपरा अर्थात् भिन्न शक्ति है। यह अभिधा इसलिए नहीं है कि इसमें संकेत का अभाव है। लक्षणा के मुख्यार्थबाध और तद्योग-दोनों लक्षण इसमें प्राप्त नहीं हैं। लक्षणा यदि अभिधा की पुच्छभूत है, तो व्यंजना लक्षणा के प्रयोजन से परिपुष्ट स्वतन्त्र उद्भावित शक्ति है।

शब्दार्थ-ज्ञापन व्यञ्जना शक्ति के लिए परा (विशिष्ट) और अपरा (भिन्न) दोनों विशेषण उपयुक्त हैं। व्यञ्जना अभिधा और लक्षणा से भिन्न शक्ति है। साथ ही, उसमें सामान्य भाषा में प्रयुक्त अभिधेय और लक्ष्य-अर्थों से विशिष्ट अर्थ भी प्राप्त है। आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण के अधिकांश पाठों में अपरा विशेषण प्रयुक्त है। यथा—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यतेऽपरः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥[२]

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश– २-१४-१५

२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण—२-२४, पृ० ७३
श्री हरिदास सिद्धान्त वागीश भट्टाचार्य सम्पादित।

वहीं पाण्डुरङ्ग वामन काणे सम्पादित साहित्यदर्पण में **अपरः** के स्थान में **परः** पाठ प्राप्त हैं:

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥[१]

इस प्रकार व्यञ्जना केवल **अपराशक्ति** नहीं है, वह **परा** अथवा विशिष्ट शक्ति है जिसका महत्त्व काव्यार्थ-सूचन में विशिष्ट है।

व्यञ्जना अभिधा और लक्षणा से भिन्न एक स्वतंत्र वृत्ति है। अभिधा और लक्षणा शब्द मात्र के व्यापार है। वहाँ शब्द ही वाचक और लक्षक होते हैं। किन्तु व्यञ्जना वृत्ति शब्द में होती है और अर्थ में भी। व्यञ्जना शाब्दी और आर्थी दोनों होती है। यहाँ शब्द व्यञ्जक होते हैं, व्यञ्जना से वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीनों प्रकार के अर्थ प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं, व्यञ्जना केवल शब्द अथवा शब्दार्थ में ही सीमित नहीं रहती है। वह प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग, चेष्टादि में भी पाई जाती है। व्यञ्जना शक्ति से प्राप्त अर्थ व्यङ्ग्यार्थ, द्योतित अर्थ और प्रतीयमान अर्थ हैं, जहाँ अर्थ के अर्थ प्राप्त होते हैं। यहाँ अर्थों की ध्वनि होती है।

आचार्य मम्मट की मान्यता है कि व्यङ्ग्यार्थों के ग्रहण में प्रतिभा की विमलता, विदग्ध व्यक्तियों का साहचर्य, प्रकरणज्ञानादि अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके अभाव में व्यंग्यार्थों का वास्तविक चमत्कार समझना असंभव है।

प्रज्ञानैर्मल्यप्रस्तावादिभिदायुजः।
अभिधालक्षणायोगी व्यङ्ग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनिः॥

व्यंग्यार्थ को ध्वन्यर्थ, सूच्यार्थ, प्रतीयमानार्थ आदि अभिधानों से भी कहा जाता है। यह वाच्यार्थ की तरह कथित नहीं है, न लक्ष्यार्थ की तरह लक्षित ही। यह अर्थ व्यञ्जित, ध्वनित, सूचित आक्षिप्त और प्रतीत होता है।

---

१. विश्वनाथ वहीं पृ. १२, पाण्डुरङ्ग वामन काणे सम्पादित।

काव्य के सौन्दर्य की प्रतीति के लिए व्यंग्यार्थ की अनिवार्यता असन्दिग्ध है । **शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः** के अनुसार शब्द, बुद्धि और क्रिया जब अपने अपने व्यापार का सम्पादन विरमित हैं और उनमें अन्य व्यापार नहीं होते हैं, तभी व्यञ्जना-शक्ति काम करती है । तब व्यञ्जना सहज साधारण अर्थ के अतिरिक्त कुछ और की व्यक्त करती है । इसीलिए ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने कहा है :

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यञ्जकतां विभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत् ॥[१]

अन्य कथन से जिस चारुत्व का प्रकाशन अशक्य है, उसे शब्द व्यञ्जना द्वारा उभार देता है ।

भाषाशास्त्र में शब्दों को दो कोटियों में विभक्त किया जाता है—आकारिक, फॉम वर्ड तथा अन्वयात्मक, फन्टन्र्ड शब्द ।अन्वय शब्द वस्तुतः व्यंग्यशब्द ही होते हैं । जहाँ शब्दार्थ वक्ता की मनोदशा अथवा भाव से परिस्फूर्त होकर व्यापक और सन्दर्भगत हो जाता है । एतदर्थ काव्य में भावद्योतन लेकर सार्थकता, रोचकता और चमत्कार उत्पादन करने की क्षमता व्यञ्जना शक्ति में निहित है । न्यूनतम शब्दों द्वारा अधिकतम भावों का प्रकाशन व्यञ्जना से ही संभव है ।

कविकर्म मनोदशा तथा भाव की तथाविध अभिव्यञ्जना करता है, जिससे पाठक अथवा श्रोता में समान मनःस्थिति बन जाती है । यही तादात्म्य-स्थापन व्यञ्जक शब्दों से होता है । काव्यभाषा का उद्देश्य रागात्मक सम्बन्ध का परिपोषण है । एतदर्थ भावोत्प्रेरक शब्दों का महत्त्व काव्य में सर्वोपरि है ।

व्यञ्जक-वृत्ति भाषा में विशिष्ट अर्थों को उत्पन्न करती है । ऐसे अर्थ व्यङ्ग्यार्थ होते हैं । यहाँ वक्तव्य में चारुत्व और आकर्षण होता है । **चारुत्वोत्कर्ष-निबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।**

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक–१-१८, पृ० ५५

पहले कहा गया है कि व्यञ्जना शब्द और अर्थ दोनों की शक्ति है । व्यञ्जना व्यापार शब्द और अर्थ— उभयगत है । अत: व्यञ्जना के दो भेद हैं शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना । शाब्दी व्यञ्जना के दो भेद होते हैं—

अभिधामूला और लक्षणामूला ।

अभिधामूला व्यञ्जना में अनेकार्थक शब्द संयोग-विप्रयोग आदि सम्बन्धों से एक अर्थ-अभिधेयार्थ में सीमित हो जाते हैं । तत्पश्चात् दूसरा अथवा अप्राकरणिक अर्थ प्राप्त होता है, तो उसमें अभिधामूल व्यञ्जना होती है । यह व्यञ्जना श्लेष से भिन्न है, क्योंकि श्लेष में सभी अर्थ प्राकरणिक ही होते हैं । लक्षणामूला व्यञ्जना में व्यञ्जना के प्रयोजन की प्रतीति कराती है । स्पष्टत: प्रयोजनवती लक्षणा और लक्षणामूला व्यंजना में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है । जहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होगी, वहाँ व्यंजना होगी ही । किन्तु अभिधा और व्यञ्जना में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है । जहाँ अभिधा है, वहाँ व्यञ्जना की अनिवार्यता नहीं है ।

आर्थी व्यञ्जना अर्थगत है; यहाँ वाच्यार्थ से अलग व्यंग्यार्थ की ध्वनि होती है । अत: इसे अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि भी कहते हैं । वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ के अर्थान्तरों की प्रतीति इससे होती है । वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ साधारणत: सर्वगम्य है, और वह अर्थबोध सीमित है । किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का प्रसार बहुमुखी है । वक्ता, बोद्धव्य, प्रकरण, देश कालादि वैशिष्ट्यों के चलते व्यंग्यार्थ वैशिष्ट्य होते हैं । आचार्य मम्मट का कथन है :

> **वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधे: ।**
> **प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥**
> **योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुव्यापारो व्यक्तिरेव च ॥**[१]

व्यञ्जनावृत्ति से एक वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ के अनेक अर्थ होते हैं । काव्य-सम्प्रेषण में इस अनेकार्थता का प्रसार चमत्कारक होता है । यहाँ काव्यार्थ-

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश—३.२१-२२ पृ० ७०-७१

रूप वस्तु में आत्मदर्शन होता है । वस्तु की वस्तुता देखने अथवा सुनने वाले की दृष्टि और प्रतीति होती है । वक्ता और बोद्धव्य के भेद से व्यंग्यार्थभेद होता है ।

सरल संस्कृत वाक्य है : **गतोऽस्तमर्कः** अर्थात् सूर्य अस्त हो गया—यदि शिष्यों के प्रति गुरु का वाक्य है, तो व्यंग्यार्थ है । अध्ययन का समय समाप्त हो गया, अब सन्ध्योपासना प्रारम्भ करनी चाहिए । यदि उपर्युक्त वाक्य राजा द्वारा सेनापति के प्रति कहा गया हो, तो व्यंग्यार्थ होगा, शत्रुदमन के लिए उपयुक्त समय आ गया है । यदि अभिसारिका नायिका की दूती का कथन है, तो व्यंग्यार्थ होगा, कि अभिसार का समय आ गया, उसके लिए प्रस्तुत हो जाओ आदि असीमित व्यंग्यार्थ-वाच्यार्थ ध्वनित होते हैं ।

जैसा कि काव्यप्रकाशकार मम्मट का निर्णय है: **प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्यादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते ।**[१]

काव्य का लक्ष्य चित्तवृत्ति को स्पन्दित करना है । प्रभावसंचार के सिद्धान्त के पालन में कविता एक प्रभावी संचारी प्रतीक है, जहाँ भाषा का प्रभावी होना आवश्यक है । इसके लिए भाषा के शब्दों में विशिष्ट अर्थों को प्रतिपादन करने की क्षमता अपेक्षित है । यह क्षमता व्यञ्जना या व्यक्ति है ।

काव्य **उत्तमोत्तम शब्द-नियोजन** है । इसमें शब्दों के अनुकूलतम प्रयोग से कवि के हृदयगत भावों का प्रभावी प्रकाशन होता है । अनुकूलतम व्यञ्जक ही होते हैं, जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक होता है । ऐसे काव्य को ही आचार्य मम्मट ने उत्तम काव्य की संज्ञा दी है:

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।।[२]

---

१. मम्मट: वहीं– ५-पृ० २५०

२. मम्मट, काव्यप्रकाश–१-४, पृ० १०

महाभाष्यकार **पतञ्जलि** प्रभृति वैयाकरणों ने प्रधान-स्फोटरूप-व्यंग्य के व्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है । अलंकारशास्त्री आनन्दवर्धन के लिए व्यङ्ग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ ही ध्वनि है ।

ध्वनि तथा प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्यार्थ—

भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि व्यंग्यार्थ के पर्याय के रूप में मान्य है । ध्वनि-काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्य का प्रतीयमान अर्थ व्यंग्यार्थ ही है ।

ध्वनि की परम्परा बहुत प्राचीन है । व्याकरण में ध्वनि को स्फोट कहा गया है। स्फोटवादी वैयाकरणों ने शब्द के आभ्यन्तर रूप को स्फोट कहा है। **स्फुटति-अर्थः अस्मात् इति स्फोटः** । जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो, उसे स्फोट कहते है । स्फोट का दूसरा नाम ध्वनि है । वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के शब्दों में—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

व्याकरण के स्फोटवाद से प्रेरणा लेकर भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य के स्वरूप और तत्त्वार्थ-विवेचन में ध्वनिवाद की प्रतिष्ठा की है । यहाँ माना-गया है कि शब्द जहाँ अपने अर्थ को तथा शब्दार्थ अपने वाच्यार्थ को गुणीभूत कर विशिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं, उसे ध्वनि कहते हैं ।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[1]

आचार्य विश्वनाथ ने भी वाच्य से अधिक चमत्कारक व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहा : **वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिः** ।[2]

---

१. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक– १-१३, पृ० ३१

२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण- ४-२, पृ० २०७

काव्यवाद के रूप में ध्वनिवाद का विवेचन परवर्ती अध्याय संस्कृत काव्य चिन्तन में किया जाएगा। शब्द-चिन्तन में ध्वनि का निरूपण शब्द और शब्दार्थ के प्रसंग में ही सीमित करना अपेक्षित है।

ध्वनि शब्द अनेकार्थक है। सामान्यत: ध्वनि का अर्थ होता है— आवाज या शब्द। भाषिक शब्द-प्रतीक ध्वनियों से ही निर्मित हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से ध्वनि के अनेक अर्थ-बोध प्राप्त हैं। ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनव गुप्त ने इसकी निम्न व्युत्पत्तियाँ दी हैं:

१. **ध्वनतीति ध्वनिः, व्यञ्जके शब्दे। ध्वनति यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः,** अर्थात् जो ध्वनि करे अथवा जो ध्वनि कराये अर्थात् वह व्यञ्जक, शब्द ध्वनि है।

२. **ध्वनतीति ध्वनिः, व्यञ्जके अर्थे। ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकोऽर्थः।** अर्थात् जो ध्वनित करे अथवा कराये, वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।

३. **ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः व्यञ्जनाव्यापारे।**

अर्थात् जिसके द्वारा ध्वनि उत्पन्न हो, वह ध्वनि है। इससे शब्दार्थक व्यापार व्यञ्जना का बोध होता है।

४. **ध्वन्यते इति ध्वनिः, रसादिव्यङ्ग्यार्थे।**

अर्थात् जो ध्वनित हो, उसे ध्वनि कहते हैं। यहाँ वस्तु, रस और ध्वनि-तीनों व्यंग्यार्थक तत्त्व समाविष्ट हैं।

५. **ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः, काव्य विशेषे।**

अर्थात् जिस में वस्तु, अलङ्कार, रसादि ध्वनित होते हैं, उस प्रकार के काव्य को ध्वनि की संज्ञा दी जाती है।

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों के प्रसंग-भेद से व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यञ्जना-व्यापार, व्यंग्यार्थ और व्यंग्य-प्रधान काव्य में ध्वनि के प्रयोग प्राप्त होते हैं। इन प्रयोगों में ध्वनि शब्द के अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार दोनों देखे जाते हैं। ध्वनि

व्यञ्जक शब्द है, यहाँ अर्थ का संकोच है। किन्तु **ध्वन्यते इति रसः**, -व्युत्पत्ति द्वारा रस, वस्तु और अलङ्कार के समावेश में अर्थ-वृत्ति है।

प्रकृतमनुसरामः। ध्वनि के उपस्थापन में इसकी मूलोत्पत्ति अवधार्य है।

भारतीय आस्तिकता में समस्त पदार्थों को परब्रह्म में समाविष्ट माना गया है। वेदान्ती व्यवहार के लिए माया-कल्पित पदार्थों की परिकल्पना करते हैं। वैयाकरण भी उसी तरह स्फोट को परम सत्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में शब्द दो प्रकार के होते हैं— एक स्फोट रूप में वर्तमान प्राकृत शब्द और दूसरा विकृत, श्रूयमाण शब्द। प्राकृत नित्य और अव्यक्त है, विकृत व्यक्त है। प्राकृत शब्द का सम्बन्ध मध्यमा वाणी से है, जो मानस रूप हैं। विकृत का रूप वैखरी वाणी से है, वह स्थूल ऐन्द्रिय रूप है। प्राकृत स्फोट है, तो वैकृत ध्वनि।

स्फोटवादी के मतानुसार नित्य शब्द हमारे अन्तःकरण में स्थित है। वह उसकी परस्थिति है। वहाँ असंख्य नित्य शब्दों का पुञ्ज है। हमारी बुद्धि का काम है शब्दों का संचयन और प्रयोगार्थ शब्दों का विश्लेषण करना बुद्धि का काम। वाणी की यह निर्णायक क्रिया पश्यन्ती कही जाती है। इसके बाद शब्द और शब्दार्थ का संयोग हृदयदेश में होता है। यह अवस्था मध्यमा कहलाती है। व्यक्त और अव्यक्त के मध्य में होने के कारण यह मध्यमा कहलाती है। तब मध्यमा का सम्बन्ध मुख में स्थित स्थान प्रयत्नों से होता है और श्रुति गोचर होने की अवस्था वैखरी की है। इस प्रकार वाणी की चार अवस्थाएँ होती हैं परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। प्रथम तीन श्रुतिगोचर नहीं होती हैं। वैखरी ही सुनाई पड़ती है। यहाँ श्रवण-प्रक्रिया में कर्णगत शब्दावलि के बीच शब्द हम सुनते हैं, जो घण्ट वादन के अनुरणन की तरह है। जिस प्रकार शब्दजनित श्रूयमाण शब्द उत्तरकालिक हैं, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी उत्तरकालिक होते हैं। पूर्व में मूल शब्द का ज्ञान होता है, तदनन्तर शब्दज शब्द की उत्पत्ति और ज्ञान। इस प्रकार स्फोट शब्द है और स्फोट शब्द का अभिव्यञ्जक रूप शब्दज है। शब्दज अनित्य है और उसी शब्दज का नाम ध्वनि है। श्रूयमाण शब्दज में ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्ति है।

व्याकरण के स्फोटवाद को आधार बना कर ध्वनिवादी आलंकारिकों ने अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य से भिन्न व्यंजना व्यापार को ही ध्वनि कहा है । जिस प्रकार स्फोटवादियों के मतानुसार शब्द से शब्दज की उत्पत्ति है, उसी प्रकार आलंकारिकों के अनुसार वाच्यादि अर्थों की उत्पत्ति और उनका बोध पहले होता है, तत्पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । शब्दज के आधार पर ही सादृश्य विधान के चलते ध्वनि का प्रयोग किया जाता है । अभिधा वाच्यार्थ का बोध करा निष्क्रिय हो जाती है । लक्षणा वाच्यार्थ युक्त लक्ष्यार्थ लक्षित कर विरमित हो जाती है । तात्पर्य भी पदार्थों के संसर्ग अथवा अन्वय रूप वाक्यार्थ का ज्ञापन कर शक्तिहीन हो जाता है । इन तीनों वृत्तियों के बोध के पश्चात् व्यंजना से प्रतीयमान अर्थ की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार व्यञ्जना का स्वतन्त्र अस्तित्व है । यही व्यञ्जना व्यापार ध्वनि शब्द वाचक है । ध्वनि केवल व्यंग्यार्थ का बोध ही नहीं कराता है, अपितु व्यंग्य-व्यञ्जक व्यंञ्जनासमुदाय-सबों का द्योतक ध्वनि है ।

काव्य में प्रतीयमान अर्थ की रमणीयता असन्दिग्ध है । वाच्यादि अर्थों का कार्य साधारण बोध है, किन्तु रमणीय व्यंग्यार्थ से वाक्यार्थ में चमत्कृति आती है । प्रतीयमान ज्ञान से सहृदय व्यक्ति के चित् का विस्फ़ार, विस्तार अथवा विकास होता है । इसमें अर्थों की झंकृति होती है । हिन्दी कविपुंगव **चिन्तामणि** ने ठीक ही कहा—**जो सुनि परे सो शब्द, जो समुझि परे सो अर्थ ।**

वस्तुध्वनि, रसध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि-त्रिविध ध्वन्यात्मक समायोजन में इसकी समग्रता सिद्ध है । इसकी व्यापकता काव्य के लघुतम अंग वर्ण से आरम्भकर महत्तम प्रबन्ध तक देखी जाती है । उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, सामासिक पद, वाक्य, प्रबन्ध—सर्वत्र ध्वनि के चमत्कार प्राप्त होते हैं, सर्वत्र विशिष्ट अर्थों का ध्वनन संभव है । काव्य विधायक रीति, वृत्ति, गुण, अलङ्कार आदि तत्त्वों में स्वतः चमत्कार नहीं रहने पर भी उनमें ध्वन्यर्थ के चलते चमत्कार की सृष्टि होती है । काव्य में ध्वनि अंगी है । ध्वनि एक ऐसा महासमुद्र है जहाँ रीति, वृत्ति आदि जलधाराएँ समाविष्ट हो जाती हैं । प्रतीयमान अर्थों में काव्य के बहिरंग तत्त्व भी अन्तरंग बन जाते हैं । यह भाषिक तथ्य है कि विशेष परिवेश में विशिष्ट भाव की

अभिव्यक्ति में शब्द का मुख्यार्थ अथवा अभिधेयार्थ अपने आप में समर्थ नहीं होता है। भाव-विशेष की सान्द्रता अपने उपयुक्त प्रसार के लिए व्यञ्जनावृत्ति का ग्रहण करती है। काव्यभाषा भाव-प्रस्तुति में भावोत्प्रेरक शब्द प्रतीकों का प्रत्यक्षी-करण है। इसके लिए प्रतीयमान अर्थ एक प्रतिमान की दृष्टि से स्वनिष्ठ होता है। इसीलिए आचार्य आनन्द वर्धन की मान्यता है—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां विभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्॥[१]

• • •

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक–१-१५, पृ० ५४

तृतीय अध्याय

भारतीय काव्य-चिन्तन; रस और भाव

काव्य आत्माभिव्यक्ति का प्रबल साधन है। मानव सौन्दर्य-प्रेमी है। वह अपनी रागात्मिका तृप्ति के लिए वाह्य जगत् अथवा वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित कर अपनी अनुभूतियों को सहज भाव से और कहीं सचेष्ट भाव से अभिव्यक्त करता आया है। इसी प्रकार काव्य में कवि, काव्य अथवा कथ्य तथा भाषा अथवा कथन तीनों भावनीय सम्प्रेषण मे एक साथ रहते हैं।

कवि वक्ता अथवा स्रष्टा होता है। काव्य उसका विधान है और अभिव्यक्ति उसकी कला। फलत: काव्य कवि के सौन्दर्य भाव और उसकी अभिव्यक्ति को लेकर होता है। वह भाव और भाषा का विशिष्ट रूपायण ही है। ईसा के तीन चार सहस्राब्द पूर्व ही भारत में वैदिक ऋषियों को काव्य-सौन्दर्य का प्रत्यय हुआ था। इसके पहले लोग देख कर भी नहीं देखते थे, सुनकर भी नहीं सुनते थे। उन्होंने प्रकृति के रूप को पहचान लिया, उसके संगीत को सुन लिया। प्रकृति उनके सामने उसी प्रकार प्रकट हो गई, जैसे कोई कमनीय कामिनी। वाणी ने अपना सारा कलेवर वैदिक ऋषियों के साथ न्योछावर कर दिया, जैसे उनकी प्राण-प्रिया। उनकी भावना तृप्त हो गई। वे कृतकृत्य हो गये। भाव ने संगीत का माध्यम लिया। वाणी में सौन्दर्य साकार हो गया। वेद-ध्वनि उसी दिव्य क्षण का प्रतिफलन है। मन्त्र है:

उत त्वः पश्यन्न ददर्शवाच-
मुतत्त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥[1]

---

१. ऋग्वेद- १०-७१-४

उन्होंने देखा-चिरकुमारी उषा अपने अधखुले उरोजों के लावण्य को नर्तकी की तरह सब के सामने प्रकट करती है। प्राची के प्राङ्गण में सद्यः स्नाता-सुन्दरी-सी खड़ी है। आलोक-वस्त्र में लिपटी उषा पूर्व दिशा में उदीमयान होकर अपने सौन्दर्य के घूँघट को उघारती है।

उषस्, सवितृ, पृथ्वी आदि सूक्तों में जीवन के रागात्मक पक्षों का मनोरम वर्णन स्थल-स्थल पर प्राप्त है। वहां काव्य-रस माधुरी की ऐसी धारा प्रवाहित होती है, साथ ही एक अभिनव शान्ति मिलती है। हृदय आनन्द में नाचने लगता है।

वेद में भाव-सौन्दर्य भी है। प्रकृति-सौन्दर्य के अवलोकन से वैदिक ऋषियों को परमानन्द हुआ। भावना के साथ चिन्तन उत्पन्न हुआ। एक ऋषि में जिज्ञासा जागी-जिसने उस द्युलोक को स्थिति रूप दिया, जिसने पृथ्वी लोक को, स्वर्गलोक को तथा व्योम लोक को स्थिर किया, जो अन्तरिक्ष लोक में व्याप्त है, उस देव को छोड़ कर किसका पूजन करूँ?

येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृल्हा
येन स्वस्तभितं येनाकः।
योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम?[१]

अथर्व के दार्शनिक कवि को इस प्रश्न का समाधान मिला। उसकी दृष्टि में सत् देव ही है। वही उपास्य है। एतदर्थ पैप्पलाद संहिता के चतुर्थ काण्ड के प्रथम अनुवाक का मन्त्र है:

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतामूं
तस्मै देवाय हविषा विधेम॥[२]

---

१. ऋग्वेद–१०-१२-५

२. अथर्ववेद– ४-१-१

वैदिक ऋषियों के लिए सर्वत्र ईश्वर की सत्ता थी । सर्वत्र देव की विभूतियाँ विद्यमान हैं । **ईशावास्यमिदं सर्वम्** । कवि का संकल्प है :

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥[१]

हम सब प्राणियों को मित्र-भाव से देखें । हम परस्पर मित्र-भाव से रहें ।

साम स्वर-सन्धान है । **स्वरः सामशब्देन लोकोऽभिधीयते** । स्पष्टतः साम उपासना और ईशप्रणव के गायन का वेद है । सामगान में सोम का पवमान साधन और साध्य दोनों है । सोमरस मधुर और स्वादयुक्त है । मधु के मिश्रण से सोम मधुमान हो जाता है । इसीलिए इसे मधुमत्, मधु, पीयूष आदि भी कहते हैं । सोमपान से अन्धकार विनष्ट हो जाता है । चेतनता का स्वर्णिम प्रकाश फूट पड़ता है, सोमपायी ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है । मन्त्र है :

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत्स मन्दी धावति ॥[२]

वस्तुतः वेद-वाणी ऐसी काव्यवाणी उपस्थित करती है जो व्यक्ति और समष्टि दोनों के लिए भावसम्पदा है । ऋग्वेद में **वाच्** वाणी को घृत से अधिक स्वादिष्ट और मधु से भी अधिक मधुर कहा गया है । **घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत** ।[३] कश्यप ऋषि ने यथार्थ कथन में वाणी का मूल गुण माना है :

यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते ।[४]

इसी प्रकार वाक् की कल्पना अर्थरूपी दूध को देने वाली धेनु के रूप में की गई है :

---

१. यजुर्वेद– ३६-१८

२. सामवेद– ५-४-४

३. ऋग्वेद–८-२४-२०

४. ऋग्वेद– ५-४४-६

सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना
धेनुर्वागस्मानुपसुष्ठु तै तु ।।[१]

गाय की जगह धेनु शब्द का प्रयोग साभिप्राय है । वाक् का पर्याय धेना धेनु से निष्पन्न है । वाक् के लिए सुनृता सत्य, हित और प्रिय के रूप में प्रयुक्त है । ऋग्वेद के ऋषि अगस्त्य मैत्रा-वरुणि ने वाक् को रमणीय द्रव्यवाली **रत्निनी** कहा है:

वाचं वाचं जरितू रत्निनी
कृतमुभाशंसं नासत्याऽवतं मम ।।[२]

ऋग्वेद में वाक् के लिए शुक्रवर्णा, सुनृता, माध्वी और स्वाद्मन प्रयोग साभिप्राय हैं और उनसे काव्य के तत्त्व और रूप दोनों के समन्वित सौन्दर्य का ज्ञान हो जाता है ।

किन्तु यह ध्यातव्य है कि वेद-वाणी में निरूपित काव्य दिव्यकाव्य के रूप में ही भारतीय जन-मानस द्वारा समादृत है । आस्तिकता वादियों के लिए वेद वेद है, मन्त्र है । वेद काव्य नहीं है । **कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूः** ।[३] यजुर्वेद-वाक्य के अनुसार स्त्रष्टा परमेश्वर ही कवि हैं । उनकी सृष्टि ही काव्य है:

देवस्य पश्य काव्यं
न ममार न जीर्यति ।।[४]

वेद वाणी देव-वाणी है :

देवीं वाचमजनयन्त देवाः ।[५]

---

१. ऋग्वेद– १-१६४-२६

२. ऋग्वेद– १-१८२-४

३. शु० यजुर्वेद– ४-८

४. अथर्ववेद–१०-८-३२

५. ऋग्वेद– ८-१००-११

महाभारतकार **व्यासदेव** ने भी कहा है:

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥[१]

वेद तथ्यमूलक अभिधान है,छन्दः उसका रूपमूलक नाम है ।

वेद परमेश्वर की विमल वाणी के रूप में ही समादृत है । वह परम देव का निश्वास है । **आचार्य सायण** का भाष्य-पद्य है :

यस्य निःश्वसितं वेदो यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् का वाक्य है कि ब्रह्म का उत्पन्न कर लोक शिक्षा के लिए परमेश्वर ने वेदों का निर्माण किया—**यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।** कौषीतकि ब्राह्मण, एतेरेय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उल्लेख आया है कि शब्दमय नित्य वेद को ऋषियों ने समाधि की अवस्था में ज्ञान और ध्वनि के रूप में पाकर छन्दोमयीवाणी में अभिव्यक्त किया है । इन्होंने मन्त्रों के दर्शन किये, न कि प्रणयन । **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः** । निरुक्तकार यास्क ने ऋषि शब्द की निरुक्ति दी है : **ऋषिर्दर्शनात्** ।[२]

वेद की अपौरुषेयता सांकेतिक है । भाषा मानवीय वृत्ति होती है । इसमें सन्देह नहीं कि ये प्राचीन ऋषि मनुष्य थे । किन्तु समाधि अथवा तन्मयता की अवस्था में मनुष्य अपने से ऊपर उठ जाता है । इन ऋषियों ने अपनी प्रतिभा और तपस्या के बल से जिन क्षणों में ज्ञान स्वरूप परमात्मा के दर्शन किये, वेद की ऋचाएं उन्हीं क्षणों की रचनाएँ हैं । वैदिक ऋषियों ने जिस ज्ञान और सत्य का अनुभव समाधि में किया, अपने को उसका एकमात्र द्रष्टा अथवा श्रोता ही माना । इसलिए वेद को श्रुति कहते हैं और मन्त्रों के रचयिता द्रष्टा कहे जाते हैं । वेद को दिव्य-निनाद

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व–१३१-५९

२. यास्कः निरुक्त, नैगमकाण्ड–२-११

मानकर धर्म वाक्य मान लिया गया है। वह अपने आप शास्त्र है। वह काव्य-शास्त्रीय विश्लेषण का विषय नहीं बना। तथापि इसे स्वीकार करना ही होगा कि उत्तरकालिक समग्र भारतीय चिन्तन वेद-वाङ्मय से प्रभावित है। भारतीय काव्य-शास्त्रीय आधार-भूमि वेद-वाणी ही है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय इतिहास में प्राचीनतम आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं और उनका रस-चिन्तन भारतीय काव्य-चिन्तन में मौलिक उपलब्धि मानी जाती है। वस्तुतः रस तत्त्व वैदिक चेतना से अनुप्राणित है। वैदिक सोमपायियों का तरल मधुर सोमरस औपनिषदिक ऋषियों के लिए सत्-चित्-आनन्द-सच्चिदानन्द का वाचक बन जाता है। जो सोमरस **दधान इन्द्रियं रसम्** अथवा **दधानः क्लशे रसम्**[1] वाक्य में ऐन्द्रियता एवं पार्थिव गन्ध से युक्त था, वह उपनिषद् काल में आकर सूक्ष्म और तरल बन जाता है। स्थूल से सूक्ष्म का अर्थविकास रसोन्मेष चिन्तन का मूलाधार है।

रस-विवेचन को लेकर भारतीय काव्यशास्त्र में भरत रचित नाट्यशास्त्र सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है। **ता एता ह्यर्था एकप्रघट्टतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।**[2] काव्यमीमांसा में नन्दिकेश्वर को रस-सिद्धान्त का प्रतिपादक माना है—**रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकां नन्दिकेश्वरः इति।**[3] परवर्ती काल में अभिनव भारती के प्रणेता आचार्य अभिनवगुप्त ने भी नन्दिकेश्वर की चर्चा की है : **यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वर– मतमत्रागमित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षाद्दृष्टं तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते संक्षेपतः —एवं नन्दिकेश्वरमतानुसारेणायं चित्रपूर्णरङ्गविधिरिति निबद्धः।**[4] शारदातनय रचित **भावप्रकाशन** ग्रन्थ में कहा गया है कि भरत को नाट्यशास्त्र

---

१. ऋग्वेदः९-२३-५,९-६३-१३

२. अभिनवभारती, अध्याय ६

३. राजशेखर,: काव्यमीमांसा, शास्त्रसंग्रह १, पृ०५

४. अभिनवभारती, अध्याय २९

विषयक शिक्षा नन्दिकेश्वर से मिली थी ।[१] नन्दिकेश्वर की कोई भी प्रामाणिक कृति अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई । तथापि नाट्यशास्त्र में प्राप्त आनुवंश्यों, कामसूत्र के नाट्यशास्त्र विषयक उद्धरणों तथा नाट्य में अथर्ववेद से रसग्रहण की परिकल्पना आदि से स्पष्ट है कि भरत के पूर्व रसचिन्तन की परम्परा थी । प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलाली और कृशाश्व नामक दो नट-सूत्र के प्रणेताओं का उल्लेख किया है । किन्तु इन नट-सूत्रों की प्राप्ति नहीं हुई ।

अत: यह स्वीकार्य है कि उपलब्ध स्रोतों में प्रथम आधिकारिक ग्रन्थ भरत विरचित नाट्यशास्त्र है । भरत मुनि का ध्यान रूपक साहित्य के उद्देश्य और तत्त्व विवेचन पर रहा है, किन्तु परवर्ती टीकाकारों तथा काव्यशास्त्रियों ने अपनी दार्शनिक और वैचारिक प्रवृत्ति के चलते नाट्य-शास्त्र का दार्शनिक और आध्यात्मिक व्याख्यान प्रस्तुत किया है । नाट्य-शास्त्र में नाट्य की दृष्टि से रस पर विचार किया गया है । तथापि रसविषयक विवेचन काव्य (श्रव्य) और नाट्य (दृश्य) दोनों के लिए समान रूप से उपयुक्त है । रस के विधायक तत्त्वों, विभाव,अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि सब का समावेश काव्य में भी होता है । अतएव नाट्य और काव्य के रस-नियोजन में किसी प्रकार का भेद नहीं किया गया है । स्वयं भरत के वाक्य हैं :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।

सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ।
अस्मिन् नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ।।[२]

नाट्यशास्त्र में अभिनय, रस, भाव, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, वाद्य, गायन, रंग आदि अनेक विषयों के विवेचन में रस और भाव को प्रधानता दी गई है । रस

---

१. शारदातनय : भावप्रकाश, अधिकार ३, पृ.५६

२. भरत : नाट्यशास्त्र– १-११६,११७

का विवेचन षष्ठ अध्याय में और भाव का विवेचन सप्तम अध्याय में हुआ है। रस और भाव के अभाव में काव्य अथवा नाट्य की सिद्धि संभव नहीं है।

रसाचार्य भरत की मान्यता है कि रस के अभाव में काव्यार्थ संभव नहीं है। **नहि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते** इति।[१] साथ ही रस और भाव के अभिन्न सम्बन्ध के स्थापन के लिए उन्होंने कहा : **न भावहीनोऽस्ति रसः, न भावो रसवर्जितः।** रस भावहीन नहीं होता है और भाव रसवर्जित नहीं है। रस का उद्रेक मन की चैतन्यावस्था में ही संभव है।

यथा वीजाद् भवेद् वृक्षो
वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे
तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥[२]

काव्य या नाट्य वृक्ष है, वृक्ष पर फूल और फल होते हैं। मूल कवि है। अभिनयादि व्यापार पुष्प हैं और सामाजिक अथवा सहृदय का रसास्वादन ही फल है।

रस को नाट्यगुण तथा प्रसंग भेद से काव्यगुण मानकर भरत ने रस का आख्यान किया है।

रस इति कः पदार्थः ? उच्यते। आस्वाद्यमानत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः ? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति प्रेक्षकाः, हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः। अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

---

१. भरतः तत्रैव ६-३२ वृत्ति, पृ० ९२

२. भरतः तत्रैव, ६-३९, पृ० ९४

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः ॥

भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥[१]

नाट्यरस एक प्रकार की भाव-प्रक्रिया है। एक ऐसा अनुभव है जहाँ एक प्रकार के मानसिक आस्वादन से आनन्द-प्राप्ति होती है। जिस प्रकार विविध अन्नों तथा भिन्न स्वादयुक्त पदार्थों से मिश्रित सुस्वादु-व्यञ्जनों के चर्वण से सुरुचिपूर्ण जनों में एक विशेष हर्ष होता है, उसी प्रकार विभावादि से व्यञ्जित तथा विभिन्न भावों से संबद्ध स्थायी भाव को आस्वाद्य बनाकर कवि नाटककार प्रेक्षक तथा पाठक को आनन्दमग्न कर देता है।

कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते कवि अथवा नाटककार यदि भाव-सिद्ध है, तभी वह भाषा के माध्यम से उसे सामाजिक अथवा सुहृदय के प्रति सम्प्रेषित करता है। रस कवि के हृदयगत भावों का प्रकाशन में होता है। कवि ही रस-व्यञ्जना का पाचक है और सहृदय उसका भोक्ता। रस कवि तथा सहृदय के रसिकत्व का परिणाम है। कवि का रसिकत्व उसके लिए प्रथम आग्रह है। इसीलिए काव्यशास्त्री भोजराज का निर्णय है:

शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥[२]

कवि यदि शृंगारी अथवा रसिक है, तो काव्य भी रसमय होता है, यदि वह वीतराग है तो जो कुछ है, वह नीरस ही है। तात्पर्य, कवि के हृदयगत रस भाव को सहृदय तक पहुंचाने में काव्य या नाट्य एक प्रभावी माध्यम है।

---

१. भरत : नाट्यशास्त्र– ६-३३, ३४, पृ० ९२

२. भोज : सरस्वती कण्ठाभरण– ५-६

स्पष्टतः काव्य अथवा नाट्य में गृहीत रस एक विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। रस-प्रसंग में साधारण ऐन्द्रिय अनुभूति भावित और परिशुद्ध होकर अतीन्द्रिय अनुभूति बन जाती है। यहाँ **इन्द्रियगत स्थिति, स्वतन्त्र कल्पना, भावोन्मेष, शुद्धीकरण, अलौकिक रसचर्वण और आनन्द एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक पहुंचने का क्रम है।**[१] अतः रस सिद्धान्त काव्यशास्त्र का मान्य सिद्धान्त बन गया है। इसमें भाषा, दर्शन, मनोविज्ञान तथा समाज-विज्ञान का अद्भुत समन्वय देखा जाता है।

रस-निष्पत्ति को लेकर भरत का प्रसिद्ध वाक्य है: **विभावानुभावव्यभिचा-रिसंयोगाद् रस-निष्पत्तिः।**[२] **विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है** यह सूत्र का सरल अर्थ है। स्थायी भाव स्वतः रस नहीं है। विभावादि उपकरणों के संयोग में स्थायी भाव की परिणति रस रूप में होती है। विभावादि उपकरण लोक-स्वभाव और लोकप्रवृत्ति के प्रातिनिधिक होते हैं। भाव, विभाव और अनुभाव के संयुक्त माध्यम से रस निष्पत्ति संभव है। भरत ने सूत्र द्वारा इन सब में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित किया है।

उपर्युक्त सूत्र के शास्त्रीय विश्लेषण से स्पष्ट है कि रस आस्वाद्य है और उसकी स्थिति वैषयिक है। सूत्र में संयोग और निष्पत्ति दोनों शब्दों के प्रयोग में अर्थान्तरण की सम्भावना है। संयोग सम्बन्ध विविधकोटिक होता है। भट्ट लोल्लट श्रीशंकुक, भट्टतौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्यों ने अपनी रुचि और संस्कार को लेकर रस चिन्तन को विभिन्न अर्थों से उपवृंहित किया है।

प्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट मीमांसक थे। उनकी दृष्टि से सम्बन्ध कार्य-करण का है और निष्पत्ति उत्पत्ति है। एतदर्थ सीता विषयक रति से युक्त राम (नट) में रसबोध प्रत्यक्षात्मक है, रसज्ञान, आरोपमूलक अलौकिक साक्षात्कार का नामान्तर है। इस प्रकार रस सामाजिकनिष्ठ नहीं है, यह मुख्यरूप से नायक,

---

१. के.सि. पाण्डेय : कम्पैरिटिभ एस्थेटिक्स– खण्ड १, पृ० १५८

२. भरत : नाट्यशास्त्र, ६-३२ वृत्ति पृ० ९३

नायिका, प्रतिनायक आदि में आश्रित है। सामाजिक को नट-नटी में आरोप द्वारा रस-बोध होता है। तदनुसार रस की निष्पत्ति-प्रतीति होती है। द्रष्टव्य—

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।[१]

स्थायी भाव जो स्वयं अनुपचित अथवा अपरिपक्व है, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग को प्राप्त कर उपचित होता है, तभी रस की प्रतीति होती है।

लोल्लट के पश्चात् दूसरे व्याख्याता **शंकुक** हैं, जिन्होंने लोल्लट के मतवाद का खंडन किया है। उन्होंने रस-स्वरूप, रस की निष्पत्ति और अवस्थिति को साधिकार प्रतिपादित करने के लिए न्यायशास्त्र का आश्रय लिया, कारण वे स्वयं नैयायिक थे। शंकुक-रचित ग्रन्थ अनुपलब्ध है। किन्तु अभिनव भारती में उनके मतवाद का पूर्ण विवरण प्राप्त है। अभिनवगुप्त के वचन ही अन्य आलंकारिकों ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किये हैं। काव्यप्रकाश में कहा गया है—

न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति रामः स्याद्वा न वाऽयमिति च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणचित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता॥

दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम्॥

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास— पृ० ९३

इत्यादि काव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिवर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद् रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः ॥[१]

शंकुक की दृष्टि में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव में अनुमान द्वारा नट-नटी में रतिप्रभृति स्थायी भावों का ज्ञान होता है। उनके मतानुसार संयोग का अर्थ है अनुमाप्य अनुमापक संबन्ध और निष्पत्ति का अर्थ है अनुमिति।

सामाजिक अभिनय कुशल अभिनेता में ऐतिहासिक रामादि की अभिन्नता का अनुभव करते हुए प्रासंगिक विभावादि रूप हेतुओं से उस नट में शृङ्गारादि रस का अनुमान करता है। यह अनुमान भी व्याप्तिग्रह पूर्वक धूम रूप हेतु से पर्वतरूप पक्ष में अग्नि के अनुमान के सदृश है। रसानुमिति की प्रक्रिया में सामाजिक अनुमाता है, नट पक्ष है, विभावादि उपकरण, हेतु या साधन हैं। रस अनुमेय है। यद्यपि रस का वास्तविक अस्तित्व नटों मे ही होता है, तथापि अनुमेय रस की विलक्षणता के कारण अनुमाता सामाजिक को भी रस का आस्वाद होता है।

शंकुक ने अनुमितिवाद के समर्थन में कहा कि नाट्य-दर्शन के समय सामाजिक अनुकार नट को अनुकार्य नायक के रूप में चित्र-तुरग न्याय से समान भाव की प्रतीति होती है। अनुकार नट में अनुमीयमान रत्यादि स्थायी भाव कृत्रिम हैं। साथ ही, नट-निष्ठ रत्यादि का अनुमान लौकिक अनुमान से भिन्न है, यह अलौकिक आनन्द का जनक है। इस प्रकार रस निष्पत्ति चक्र में अनुकार्य और अनुकार के साथ सहृदय अथवा सामाजिक को स्थान देकर शंकुक ने एक नवीन अवतारणा की है।

---

१. मम्मट : तत्रैव– ५४—पृ० ९६-९८

शंकुक के पश्चात् प्रत्यक्ष रस-पोषण की मान्यता के लिए भट्टतौत और भट्टनायक उल्लेख्य हैं। जिनका योगदान रस-चिन्तन में साधारणीकरण सिद्धान्त लेकर मौलिक है। शंकुक के मतवाद में अनुमान के चलते सहजानुभूति तत्त्व का निषेध है। यह मनोविज्ञान की दृष्टि से सर्वथा असंगत है। पुनः शंकुक ने चित्र-तुरग न्याय से रस की अनुमेयता प्रमाणित की है। मनोविज्ञान के आधार पर अनुमान बुद्धि की प्रक्रिया है, मन की नहीं। अनुमान से ज्ञान की प्राप्ति संभव है, अनुभूति नहीं। उस समस्या का समाधान भट्टतौत और भट्टनायक ने अपनी अपनी दृष्टियों से किया।

भट्टतौत रचित काव्यकौतुक ग्रन्थ अनुपलब्ध है। किन्तु अभिनवभारती के उन्नीसवें अध्याय में काव्य कौतुक के कुछ श्लोक उद्धृत हैं। जिनमें रस-निष्पत्ति लेकर भट्टतौत का पुष्टिवाद उल्लिखित है। उनकी मान्यता है कि लक्षण, गुण, अलंकृति, शब्द-प्रवृत्ति, वृत्ति, सन्ध्यंग आदि काव्यतत्त्वों की पारस्परिक अनुकूलता से रसाभिव्यक्ति की संपुष्टि होती है।

> लक्षणालङ्कृतिगुणा दोषाः शब्दप्रवृत्तयः।
> वृत्तिः सन्ध्यङ्गसंरम्भः संहारो यः कवेः किल॥
>
> अन्योऽन्यस्यानुकूल्येन सम्भूयेव समुत्थितेः
> झटित्येव रसा यत्र व्यज्यन्तेऽऽह्लादिभिर्गुणैः॥[१]

उनके मतानुसार साधारणीकरण की प्रक्रिया में नायक और सामाजिक के बीच कवि की मध्यस्थता समान रूप से प्रतिष्ठित है : नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवः।[२]

भट्टनायक ने भी शंकुक के अनुमिति सिद्धान्तका खंडन व्यवहारमूलक तर्क के आधार पर किया। वे सांख्यवादी थे। सांख्य दर्शन के अनुरूप उन्होंने सूत्र-निष्ठ संयोग शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक सम्बन्ध माना और निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति

१. द्रष्टव्य : अभिनव भारती (हिन्दी संस्करण) पृ० ९६
२. ध्वन्यालोक, लोचन टीका– पृ० ९२

या भोग दिया। अत: रसनिष्पत्ति को लेकर उनका अभिमत भोगवाद या भुक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

भट्टनायक ने काव्य-कथ्य और प्रमाता सामाजिक के बीच **भोज्य-भोजक** सम्बन्ध की परिकल्पना की। एतदर्थ उनकी मान्यता है कि शब्द के अभिधा-व्यापार द्वारा प्राप्त वाक्यार्थ विभावादि भावना-व्यापार से साधारणीकृत होता है और तदुपरान्त भोजकत्व व्यापार से सामाजिक साधारणीकृत रत्यादि भावों का भोग करता है और आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करता है। इस प्रकार भट्टनायक की दृष्टि में काव्य की तीन शक्तियाँ निसर्ग-सिद्ध है। ये तीन हैं— अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधाद्वारा काव्य में वाच्यार्थ गृहीत होता है, भावकत्व से अर्थ भावित होता है और भोजकत्व से रस उपभुक्त होता है। **अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च**। अत: भट्टनायक की रसनिष्पत्ति रसभुक्ति है।

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद् विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।[१]

चतुर्थ तथा सर्वधिक प्रामाणिक व्याख्याता अभिनवगुप्त हैं। जिन्होंने भट्टनायक और भट्टतौत द्वारा निरूपित साधारणीकरण के सिद्धान्त को अपने चिन्तन का आधार बनाया। किन्तु उन्होंने भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व शक्तिद्वयं का खंडन किया। उनकी दृष्टि में इन दो शब्द-व्यापारों के लिए कोई प्रमाण नहीं है, साथ ही भावकत्व व्यापार का ध्वनि में तथा भोजकत्व का रसास्वादन में सहज अन्तर्भाव किया जा सकता है। एतदर्थ उनकी दृष्टि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से अभिव्यक्त तथा सहृदय सामाजिक का हृदयस्थ स्थायी भाव ही रस है। रस सहृदयाश्रित ही है। रसनिष्पत्ति रसाभिव्यक्ति है। यहाँ अभिनव गुप्त के मूल वाक्य उद्धरणीय हैं: **अलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्यका-**

१. मम्मट : काव्यप्रकाश, उल्लास– ४, पृ० १००

रणादिरूपसंस्कारोपजीवनाख्यापनाय विभावादिनानानामव्यपदेश्यैः गुणप्रधानात् तात्पर्येण सामाजिकसंयोगं सम्बन्धमैकाग्रं वा आस्वादितवद्भिः अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणगोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारः न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव रसः ।[१]

भावार्थ है कि विभावादि उपकरणों द्वारा सामाजिकों के हृदय में विद्यमान रत्यादि भाव ही व्यञ्जना द्वारा अभिव्यक्त होता है ।

अभिनवगुप्त काश्मीरी शैवाद्वैतवादी थे । उन पर उत्पलाचार्य के आभासवाद का पर्याप्त प्रभाव था । आभासवाद सिद्धान्त के अनुरूप रस हृदय संवित् है । यहाँ व्यक्ति निरपेक्षता लेकर दर्शकों अथवा पाठकों की विभिन्नता विगलित हो जाती है । एकत्व की व्याप्ति ही रहती है । इस एकत्व के चलते रस की निर्विघ्न अभिव्यक्ति में चम्त्कार का उद्‌भव होता है जो अलौकिक और विलक्षण है । यह मानस-प्रतीति है जो लौकिक प्रतीति से भिन्न होती है । यह ऐसी भाव-प्रतीति है जो अनुभवगम्य होकर भी अनिर्वचनीय है । यहाँ रस-ज्ञान शाब्द होकर भी **तत् त्वमसि** वाक्यार्थ-शाब्दबोध जैसा साक्षात्कार रूप है । सहृदय प्रेक्षक अथवा पाठक अपने-अपने व्यक्तिगत बन्धन से मुक्त होकर तन्मय होजाता है । अन्ततोगत्वा वह ऐसी अवस्था को प्राप्त करता है जहाँ रसाभिव्यक्ति और तज्जनित आनन्द सुलभ होते हैं । परिणामतः रस कोई बाह्यवस्तु नहीं, अपितु एक विशिष्ट मनोदशा की आनन्दानुभूति है ।

रसानुभूति आवरणहीन आत्मचैतन्य की अनुभूति है । अभिनवगुप्त ने रसानुभूति को **वीतविघ्ना प्रतीति** कहा है । उन्होंने इस प्रसंग में प्रतिपाद्य विषय में योग्यता का अभाव, सम्भावना-विरह, स्वसुखदुःख से विवशभाव, प्रतीति-वैकल्य, अस्पष्टता, अप्रधानता तथा संशय योग—सात विघ्नों का उल्लेख किया है । इन विघ्नों के अभाव में सामाजिक का चित्त रजोगुण और तमोगुण को गुणीभूत कर सत्त्वगुणमय हो जाता है और वहाँ रसानुभव स्वभावतः समुल्लसित होता है ।

---

१. अभिनवगुप्त : अभिनव भारती— अध्याय ६

सर्वथा रसनात्मक-वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विघ्नापसारकाः.........विभावप्रभृतयः। विघ्नश्चास्यां सप्त-प्रतिपत्तौ अयोग्यता, सम्भावना- विरहो नाम, स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो, निजसुखादिविवशीभावः, प्रतीत्युपायवैकल्यं, स्फुटताभावोऽप्रधानता, संशययोगश्च।[1]

इस प्रकार रस कवि तथा सामाजिक की आनन्दमयी चेतना है। रसोद्रेक चैतन्यावस्था में ही संभव है, कारण— रस भावित अनुभूति है। कस्तूरी सुवास की तरह रस पाठक तथा प्रेक्षक के मन में वासित है।

रसशास्त्र में अभिनवगुप्त की स्थापना नवीन आयाम लेकर उपस्थित है। रस स्वरूप तथा रस-निष्पत्ति के प्रसंग में जितने भी मतवाद उनके पूर्व प्रस्तुत हुए थे, उन सबका प्रत्याख्यान कर उन्होंने अभिव्यक्तिमूलक रसास्वाद को एक सुदृढ़ दार्शनिक और आध्यात्मिक आधार दिया है। एतदर्थ अभिनव-गुप्त का रस विषयक मन्तव्य परवर्ती-काल में प्रबल और साधिकार सिद्ध हुआ तथा किसी भी आलङ्कारिक को इसे खण्डन करने का साहस नहीं हुआ। उनके समकालीन मम्मट, चतुर्दश शतक के मान्य आचार्य विश्वनाथ, सप्तदश शतक के प्रकाण्ड पंडित काव्यशास्त्री जगन्नाथ आदि सबने अभिनवगुप्त के मत का समर्थन किया। व्यक्तिविवेककार राजानक श्रीमहिमभट्ट ने काव्य में ध्वनिवाद का प्रबल खण्डन किया। किन्तु उन्होंने भी रस को काव्यात्म रूप में स्वीकार किया।

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।[2]

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन में रस काव्य-सौन्दर्य और काव्यानन्द का पर्याय-सा स्वीकृत है। यही कारण है कि अलङ्कारवादी आचार्य दण्डी ने रस की व्यापकता को स्वीकार करते हुए कहा :

---

१. लोचन : नाट्य शास्त्र– ६-३४ —भाष्य

२. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक– १—कारिका ३६

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥[१]

उनकी दृष्टि में अलंकारों से रस का ही निषञ्चन होता है ।

कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति ॥[२]

तात्पर्य है कि रस की वस्तुनिष्ठता स्वीकार्य है । उसमें वस्तुनिष्ठ स्वरूप भाव की कलामूलक अभिव्यक्ति होती है । रस की आत्मनिष्ठता काव्यसौन्दर्य का आस्वाद है । अलंकारादि शिल्प विधान का साध्य रस ही है ।

काव्यसौन्दर्य के पृथक्-पृथक् ग्रहण से भारतीय काव्यशास्त्र में विभिन्न मान्यताएँ अवश्य प्रतिपादित हैं । किन्तु सभी मत-वादों की **विश्रान्ति** रस में ही है । रीतिवादी वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में ग्रहण किया । उनकी रीति व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है, वह गुण, अलङ्कार, शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य से युक्त पदरचना है । उनके वाक्य हैं :—

रीतिरात्मा काव्यस्य । विशिष्टा पदरचना रीतिः । विशेषो गुणात्मा । काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् आदि ।[३] रसवादी आनन्दवर्धन ने रीति को रस-मान्यता के अनुकूल बनाकर गुणाश्रित के रूप में उसे रसरूप सौन्दर्य का साधना माना है और **संघटना** कहकर उसका नया नामकरण किया है । रीति और संघटना दोनों तात्त्विक दृष्टि से एक हैं । आनन्दवर्धन की मान्यता है :

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृ-वाच्ययोः ॥[४]

---

१. दण्डी : काव्यादर्श– परिच्छेद-१, श्लोक– ५१

२. दण्डी : तत्रैव– १-६२

३. वामन : काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति– १-१-४

४. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक–३-६२, पृ० १८१

स्पष्टतः भारतीय काव्यशास्त्र में रस एक विशिष्ट अर्थ लेकर प्रयुक्त है। इसमें एक अतीन्द्रिय अनुभूति व्यक्त है। रसानन्द ऐन्द्रिय होते हुए भी अतीन्द्रिय आनन्द माना जाता है। रस के प्रसंग में साधारण इन्द्रिय अनुभूति भावित और परिशुद्ध होकर अतीन्द्रिय अनुभूति हो जाती है।

अभिनवगुप्त के रसवाद में मनोविज्ञान और अध्यात्म का सम्मिश्रण है। अनका व्यक्तिवाद आत्मिक उद्घोष है। उनकी मान्यता है कि काव्यानन्द अलौकिक और विलक्षण है, इसकी तुलना अन्य प्रकार के लौकिक सुख से नहीं हो सकती है, कारण—रसानन्द व्यक्तिनिरपेक्ष है और स्वतन्त्र रूप से सहृदयों द्वारा आस्वाद्य है। यह आनन्द अतीन्द्रिय है जिसका उद्रेक मन की उन्नत चैतन्यावस्था में ही है। इसीलिए यहां सत्त्वोट्रैक होता है जो रस का हेतु है। रस अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मानन्द-स्वाद सहोदर और लोकोत्तर चमत्कार-प्राणस्वरूप माना जाता है। यह न ज्ञाप्य है, न कार्य है। अतः यह अलौकिक और अनिर्वचनीय है। रसास्वाद में व्यक्तित्व का परिहार है। न मम न परस्य—न मेरा, न दूसरे का का भाव है। आचार्य विश्वनाथ के शब्दों से—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥[1]

रसानन्द जिस उन्नत चैतन्यावस्था में प्राप्य माना गया है, उसे हम अनुभवाभास हिप्नोटिज्म की अवस्था नहीं कह सकते हैं। अनुभवाभास में मन की एकाग्रता हमारी चेतना को सक्रिय नहीं कर सकती है। किन्तु इसके विपरीत काव्यानुभव परमतुष्टिप्रस्य, जाग्रत चेतना का प्रतिफलन है। यहाँ काव्यवस्तु चेतना

१. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण— ३-२,३,१२

की गुरुतम अथवा गहनतम क्रिया का सबल आधार है । यही काव्य की भावसौ-न्दर्यमूलक उपलब्धि है । उच्चतम विन्दु पर आकर चेतना स्वयं निश्चेष्ट हो जाती है, कारण जब कोई वस्तु चेतना द्वारा पूर्णतः आत्मसात् हो जाती है, तो उसको लेकर किसी विशेष चिन्तन की आवश्यकता नहीं रहती है । आत्म-चैतन्य के स्थगन से उस वस्तु में तादात्म्य संभव है । जब तादात्म्य निर्विघ्न और अक्षुण्ण हो जाता है, तभी **कलात्मक परमानन्द एस्थेटिक एक्सट्रैसी**—अनुभवगम्य होता है ।[१]

भारतीय काव्यचिन्तन में रस में वस्तु और व्यक्ति दोनों पक्ष विद्यमान हैं । रस सहृदय की आत्मा में स्थित है, उसकी अभिव्यक्ति काव्य में निरूपित वस्तु से होती है । वस्तु निष्ठता को लेकर रस आस्वाद्य है । व्यक्तिनिष्ठा के चलते रस आस्वाद या भाव है । आस्वाद में आनन्द का अर्थ ग्रहण है । इन दोनों में किसी एक को ही सत्य मानना असंगत है, तथापि यह सत्य है । कि काव्य में भाषा का भावगत प्रयोग होता है और भाव वस्तुनिष्ठ से अधिक व्यक्तिनिष्ठ है ।

फलतः काव्य-चिन्तन में सौन्दर्यगत समस्याओं का समाधान रस-सिद्धान्त में है । रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने इसीलिए काव्य को **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**[२] वाक्य से परिभाषित किया । काव्य सौन्दर्य की रसपरकता का उद्घोष है । सौन्दर्य रसमय वाक्य में ही सम्भव है, कारण—सौन्दर्य रस में अवतरित होकर सहृदय को प्राप्त होता है । काव्य-रस विशिष्ट और शास्त्रीय है ।

रस के उपकरण—

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से स्थायीभाव रस में परिणत होता है । **विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः** भरतसूत्र से रस के तीन उपकरण विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव स्पष्ट हैं । नाट्यशास्त्र के षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में भाव और रस के प्रसंग में उल्लिखित है कि—

---

१. एच० ओस्बोर्न : एस्थेटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म— पृ० १५३-१५४

२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण—१-३

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥

तथा

योऽर्थो हृदयसंवादि तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥[१]

लोकजीवन में जो स्थायी भाव है, वही काव्य में रस है। जिन भावों की सहायता से काव्यार्थ सहृदय अथवा सामाजिक द्वारा आस्वादित होता है, जिस काव्यार्थ के ग्रहण के लिए सहृदय प्रवृत्त होता है, वही भाव है : **वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः**। भरत के अनुसार भाव तीन प्रकार के होते है : व्यभिचारी भाव, सात्त्विक या संचारी भाव तथा स्थायी भाव। विभाव और अनुभाव भाव के पूर्वभाव हैं।

भाव शब्द की व्युत्पत्ति-**भू भावे घञ्** है। **भवन्तीति भावाः**, लोक-प्रसिद्धि से किसी में उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति भाव है। अथवा **भावयन्तीति** भावाः, जो किसी को भावित करता है, वह भाव है। भाव भावन की प्रक्रिया है। चित्तवृत्ति अनन्त है, भावों की अनन्तता भी स्वतः सिद्ध है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से भावों का संख्यानिर्धारण हुआ है।

स्थायी भाव—

ये सहज मनोभाव हैं, मन में जितने भी विकार हैं, उनमें ये स्थायी रूप से विद्यमान हैं। रसानुभूति में स्थायी आद्यन्त व्याप्त रहते हैं। अन्य व्यभिचारी भाव सागर में तरंगों की तरह उठते और विलीन होते रहते हैं। जल में लवण की तरह ये स्थायी रूप से स्थित हैं ।

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥[२]

---

१. भरत : नाट्यशास्त्र– अध्याय ७

२. धनञ्जय : दशरूपक– ४-३४

भरत ने आठ स्थायी भावों का उल्लेख किया है :

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥[१]

एक संस्करण में शम, निर्वेदादिभाव को स्थायी भावों में सम्मिलित कर उनकी संख्या नौ हो गई है ।

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ।
एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः ॥[२]

अभिनवगुप्त तक नौ स्थायी भावों की स्वीकृति थी । बाद में वात्सल्य, भक्ति, प्रेम, माया, व्रीडनक आदि विभिन्न रसों की परिकल्पना कर आर्द्रता बालविषयारति भगवद्विषयारति, मित्रविषयकरति,मिथ्याज्ञान, लज्जा आदि नवीन स्थायी भावों का भी प्रतिपादन हुआ है । इन परिवर्धित स्थायी भावों के रूप में स्थायी भावों की संख्या में वृद्धि युक्तियुक्त नहीं जँचती है ।

सात्त्विक भाव—

भरत ने आठ सात्त्विक भावों को भाव की संज्ञा दी है । उनके अनुसार आठ सात्त्विक भाव हैं

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥[३]

---

१. भरत : नाट्यशास्त्र– ६-१८

२. भरत : तत्रैव, ६-८३ का अनु० ।

३. भरत : नाट्यशास्त्र– ६-२३

इन सात्त्विक भावों का जन्म मानसिक भावों के आवेगों से ही होता है। किन्तु ये शारीरिक चेष्टाओं के रूप में ही प्रकट होते हैं। यही कारण है कि परवर्ती आलंकारिकों ने इन सात्त्विक भावों को अनुभावों के रूप में स्वीकार किया है।

व्यभिचारी भाव—

व्यभिचारी भाव का दूसरा नाम संचारी है। व्यभिचारी भाव सहकारी होते हैं और रत्यादि की तरह स्थायी नहीं रहते हैं। ये रत्यादि के अभिमुख अथवा अनुकूल संचरणशील हैं, पानी के बुद्बुद् की तरह उठते-गिरते रहते हैं। व्यभिचारी भाव भी सात्त्विक तथा स्थायी भावों की तरह सहज चित्तवृत्ति रूप हैं। किन्तु अन्तर यही है कि स्थायी चिरकाल तक चित्त में अवस्थित रहता है, जबकि व्यभिचारी मेघमाला के बीच कौंधती बिजली की तरह अस्थिर और अल्पकालिक होता है। एक व्यभिचारी भाव एकाधिक रसों में विद्यमान है।

तत्र आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्। न च चित्तवृत्तिरूपाणामेषामाशु-विनाशित्वं स्थिरत्वं दुर्लभं, वासनरूपतया स्थिरत्वं तु व्यभिचारिष्वतिप्रसक्तमितिवाच्यम्। वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभि-व्यक्तेरेव स्थिरपदत्वात्। व्यभिचारिणां तु नैव, तदभिव्यक्तेर्विद्युदुद्योतप्रायत्वात्॥[१]

भरत ने तैंतीस व्यभिचारी भावों का उल्लेख किया है। ये हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्ति, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।[२] इसमें शान्तरस के निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव के अन्तर्निवेश से व्यभिचारी भावों की संख्या चौंतीस हो जाती है। मानव के स्वभाव-वैचित्र्य के चलते व्यभिचारी भाव में वैचित्र्य से इस संख्या में वृद्धि हो सकती है।

---

१. जगन्नाथ : रसगङ्गाधर– १, पृ० ३६-३७

२. भरत, नाट्यशास्त्र– ६-१९ से २२

विभाव—

भावों के दो बाह्यरूप हैं विभाव और अनुभाव। लोकव्यवहार के कारण को काव्य में विभाव कहा गया है। नामकरण की सार्थकता के लिए नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय की सहायता से सामाजिकों की वासनात्मक मनोवृत्तियों का विभाव अथवा विशेष ज्ञान कराया जाता है।

विभावो नाम विज्ञार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्। अत्र श्लोकः—

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥[१]

विभाव के दो वर्ग होते हैं : **आलम्बन और उद्दीपन**। चित्तवृत्ति के विषय को आलम्बन अथवा उत्पादन द्वारा विभावित करने वाले को आलम्बन विभाव तथा उद्दीपन द्वारा विभावित करने वाले को उद्दीपन विभाव कहते हैं। पुनः आलम्बन के दो भेद होते हैं—विषयावलम्बन और आश्रयवलम्बन। जिस आलम्बन को विषय बना कर रत्यादि भाव जाग्रत होते हैं, उसे विषयावलम्बन कहते हैं। विषयावलम्बन के प्रति जिस व्यक्ति के चित्त में भाव-जाग्रत होते हैं, वह आश्रयावलम्बन है।

विभावों में आलम्बन प्रधान है और उद्दीपन उसका सहयोगी अथवा सहचारी। अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त का रतिभाव विषय है। शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों आलम्बन विभाव है। शकुन्तला का अनिन्द्य सौन्दर्य, मालती नदी का सामीप्य तथा तपोवन का एकान्त निर्जन स्थान आदि उसके उद्दीपन हैं। इस प्रकार रस बोध में विभावादि कारण अथवा सहकारी कारण होते हैं। जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है :

---

१. भरत : तत्रैव– ७-४

कारण-कार्यसञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः ।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्यत्र ते मताः ॥[१]

अनुभाव—

भाव के कार्य को अनुभाव कहते हैं ।

अनुभाव चित्तवृत्ति के अवबोधक बाह्य व्यापार कहे जाते हैं । भावं मनोगतं साक्षात् स्वगतं व्यञ्जयन्ति ये, ते अनुभावाः, यथा भ्रूभंगादयः । लोके ये कार्य रूपाः, तेऽनुभावाः काव्यनाट्ययोः । अथवा अनु पश्चात् भावः उत्पत्तिर्येषाम् व्युत्पत्ति भावों को अभिव्यक्त करने वाली चेष्टाएँ अथवा वचन अनुभाव हैं । इस प्रकार अनुभाव कार्य और कारण दोनों होते हैं । रस को अनुभव गोचर बनाने की दृष्टि से ये कारण हैं और स्थायी भाव के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण इन्हें कार्य भी कहते हैं ।

भरत ने वाग्, अंग और सत्त्व के आधार पर अनुभावों को वाचिक, आंगिक और सात्त्विक तीन वर्गों में विभक्त किया है ।

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥[२]

उपर्युक्त उपकरणों के अतिरिक्त काव्यमूलक रस-सृष्टि में भाषा की विशिष्टता भी है यही भरत के नाट्य शास्त्र में निरूपित प्रवृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है । यह स्वीकार्य है कि रसानुकूल भाषा-प्रयोग में ही रस सम्प्रेष्य है । शृंगार रस में भाषिक वृत्ति मधुर और कोमल होती है, जब कि वीर रस में वह ओजोमयी और कठोर होती है । वस्तुतः काव्य की रस-सृष्टि समुचित भाषा प्रयोग की सौन्दर्य सृष्टि होती है । मूल प्रयोग लोकयात्रा को स्थानान्तर्गत तक कहा ।

वाचामेव प्रसादेन रस-यात्रा प्रवर्तते ।

---

१. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण– ३-१४

२. भरत : नाट्यशास्त्र, ७-५

रस-भेद—

भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में आठ रसों की परिगणना की है ।

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।।[१]

वहीं बड़ौदा वाले संस्करण में—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नवनाट्यरसाः स्मृताः ।।[२]

वाला पाठ भी प्राप्त है; जिसमें पूर्वोक्त शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत **आठ रसों के साथ शान्त को** समाविष्ट कर **नौ नाट्यरस माने गये हैं** । इस प्रकार रस-संख्या-निर्धारण में दो मत प्रचलित हैं । एक वर्ग की धारणा है कि भरत काल तक शान्त रस विषयक नाट्य-रचना नहीं हुई थी । उनकी दृष्टि में आठ ही नाट्य-रस थे । **शान्त** रस की मान्यता लेकर भरत वाक्य परवर्ती काल का प्रक्षेप है ।

नाट्ये अष्टौ रसाः मानने वालों का प्रबलतम तर्क है कि ई० पूर्व प्रथम शतक अथवा ई० चतुर्थ शतक में नाटककार **कालिदास** ने भरत की तथाविध मान्यता का उल्लेख अपने **विक्रमोर्वशीय** में किया है ।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः ।[३] कालिदास के उस उल्लेख से यह सुस्पष्ट है कि उनके काल तक भरत द्वारा प्रतिपादित आठ नाट्यरसों का प्रयोग ही मान्य था । ई० छठी सदी के आचार्य **दण्डी** ने भी इसका समर्थन किया है ।

---

१. भरत : तत्रैव— ६-१६

२. भरत : नाट्य शास्त्र- (ब. सं.)६-१५

३. कालिदास : विक्रमोर्वशीय— २-१७

वाक्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः ।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ॥[१]

आलङ्कारिकों में सर्वप्रथम नवम रस के रूप में **शान्त की उद्भावना उद्भट** ने की है :

श्रृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥[२]

तत्पश्चात् **अभिनवगुप्त** ने अपने **अभिनवभारती** ग्रन्थ में भरत प्रणीत नाट्य शास्त्र से कतिपय उद्धरणों को प्रस्तुत कर शान्तरस का स्थान अन्य आठ रसों के साथ रखा । उनकी धारणा थी कि ये सभी वाक्य भरत के ही हैं ।

श्रृङ्गार....बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ।

एवं नवरसाः प्रोक्ता एवमेते रसा ज्ञेया नवलक्षणलक्षिताः रतिहासश्च...जुगुप्साविस्मय शमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ।

सभी मूल पाठों के रूप में उनके द्वारा गृहीत हैं । नाट्यशास्त्र के आधार पर ही उन्होंने शान्त रस की प्रतिष्ठा की और भर्त्सना भरे शब्दों में कहा

शान्तापलापिनः अष्टौ नाट्यरसा इति पठन्ति।[३]

वास्तविकता यही है कि भरत की दृष्टि में शान्त रसत्व था । उन्हें इसकी अपेक्षा थी कि इस प्रकार का प्रयोग उपलब्ध होता । **शम** को एक स्थायी भाव के रूप में प्रकारान्तर से उन्होंने स्वीकारा था । नाट्य—प्रयोजन के प्रसंग में उनका मूल मन्तव्य था—

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः ।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥

---

१. दण्डी : काव्यादर्श— २-२९२

२. उद्भट : काव्यसंग्रह— ४-५

३. अभिनवगुप्त : अभिनवभारती, ६-१६

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामार्थसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया ।।[१]

शम प्रधान व्यक्तियों कें लिए शान्त भाव ही काम्य है । भारतीय जीवन में धर्मदर्शन के पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष को परमार्थ माना गया है और मोक्ष के लिए शम स्थायी भाव की अनिवार्यता है ।

ध्यातव्य है कि भरत ने आठ रसों की संख्या द्रुहिण आचार्य की सम्मति के साथ उल्लिखित की है । साथ ही, कालिदास ने **अष्टरसाश्रयः प्रयोगः** —प्रयोगमूलक रसों की गणना ही आठ से की है । प्रयोग अथवा अभिनय की दृष्टि से शान्तरस की मर्यादा उन्होंने नहीं दी थी । यही सरल अर्थ उस वाक्य से ग्रहण करना संगत है । परवर्ती काल में धनञ्जय और धनिक, दोनों का मत भी ऐसा था । आचार्य मम्मट ने भी शान्त को श्रव्यकाव्य का रस माना है । आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि प्रथम कोटि के आचार्यों दृश्य और श्रव्य दोनों के लिए शान्त का रसत्व स्वीकार किया है । अभिनवगुप्त ने तो सभी रसों में शान्त को प्रधान माना है । जिस प्रकार भारतीय धर्म दर्शन में मोक्षार्थ परम पुरुषार्थ है, उसी प्रकार रसों में शान्त प्रधान :

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्व ज्ञानार्थहेतु संयुतः ।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तो रसो नाम विज्ञेयः ।।[२]

अभिनव गुप्त ने तत्त्व ज्ञान को शान्त रस का स्थायी भाव माना है । रुद्रट ने तत्त्व ज्ञान के स्थान पर सम्यक् ज्ञान कहा था । अभिनवगुप्त के समकालीन क्षेमेन्द्र ने निर्वेद और शम-दोनों को शान्त रस के स्थायी भाव के रूप में स्वीकार किया । वस्तु की नित्यता और अनित्यता के समीक्षण के पश्चात् उत्पन्न ज्ञान निर्वेद है और भाव शम है । शान्तरस की उपलब्धि के लिए वैराग्य, संसार-भीरुता आदि उसके

१. भरत : नाट्यशास्त्र– १-१०८,१०९
२. अभिनवगुप्त : अभिनवभारती– पृ० ३४०– गायकवाड

विभाव हैं। मोक्ष, शास्त्र- चिन्तन आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।

शान्तरस की स्वीकृति में अभिनवगुप्त ने मनोवैज्ञानिक आधार रखा है। उनकी दृष्टि में शान्त रस का स्थायी भाव एक ऐसी स्थिति में उत्पन्न है, जहाँ बाह्य विषय जनित उत्तेजनाएँ नहीं रहती हैं। उत्तेजना-रहित शान्त चित्त-दशा ही सभी भावों तथा रसों की आधारभूत प्रकृति है। साथ ही, उनकी मान्यता है कि विषय ज्ञान के तत्कालिक विलोप की अवस्था में ही अन्य रसों का आस्वादन संभव है। इस प्रकार सभी रसों का मूलाधार शान्त रस ही है।

सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादः विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या॥[१]

श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति है, जो नायक-नायिका के अन्योन्याश्रय प्रेम नाम की चित्तवृत्ति में प्राप्त है। हास्य का स्थायी हास है जो आंगिक चित्तविकास है। करुण रस का स्थायी भाव शोक है जो शाप, प्रिय-वियोग; विभवनाश आदि विभावों से जनित है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध राक्षस, दानव अथवा उद्धत मनुष्य में प्राप्त है। जिसमें क्रोध घर्षण, अधिक्षेप आघात, कठोर–वचन आदि विभाव होते हैं। वीर रस का स्थायी उत्साह, पराक्रम, दान, प्रताप आदि विभावों से उत्पन्न है। इस स्थायी भाव का आश्रय उत्तम प्रकृति वाला पुरुष ही होता है। विकृत प्राणियों के दर्शन अथवा अप्राकृतिक घटनाओं के श्रवण से उत्पन्न चित्तविकलता ही भयभाव है जो भयानक रस का स्थायी भाव है। बीभत्स का स्थायी भाव जुगुप्सा है जो अभव्य, अप्रिय, अरुचिपूर्ण वस्तु के दर्शन, कीर्त्तन आदि विभावों से उत्पन्न विचिकित्सा चित्तवृत्ति है। अद्भुत का स्थायी भाव विस्मय या आश्चर्य भाव है जो दिव्य-जनों के दर्शन, अप्रत्याशित अलभ्य की प्राप्ति, इन्द्रजालादि विभावों से उत्पन्न चित्त-विकास है।

देवता गुरु-शिष्य पुत्रादावभिव्यज्यमाना रतिः—देव, गुरु, पुत्रादि के प्रति रति भाव भी स्वाभाविक है। इनमें देवरति और अपत्यरति विशिष्ट हैं। दैनन्दिन

---

१. दण्डी : काव्यादर्श– २-२७५

जीवन में इसकी अनुभूति होती है। इन दोनों की रति के लिए भगवद्विषया रति और वात्सल्यरति उपर्युक्त नौ स्थायी भावों के साथ बहुधा गृहीत हैं। तदनुसार उनके भक्तिरस और वत्सल रस की स्वीकृति सर्वमान्य-सी है। परवर्ती काल में लौक्य, कार्पण्य, व्रीडनक आदि भावों को स्थायी मानकर अन्य रसों की प्रकल्पना भी हुई है। किन्तु उनकी रसता सन्दिग्ध ही है, क्योंकि उनका व्यभिचारी भावों तथा अन्य स्थायी भावों में अन्तर्भाव सहज हो जाता है।

वत्सल रस की विशिष्टता अलङ्कारवादी आचार्यों ने भी निरूपित की है। भामह, रुद्रट, दण्डी आदि आचार्यों ने स्पष्टतः इसे वत्सल रस की संज्ञा न देकर प्रेयस् अलङ्कार माना है।

> प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
> ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्॥[१]

वत्सल को रस के रूप में सर्वप्रथम ई० चतुर्दश शतक में आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार वत्सलता स्नेह इसका स्थायीभाव है, पुत्रादि आलम्बन हैं। आलिंगन, शिरश्चुम्बन, ईक्षण आदि अनुभाव हैं।

अथ मुनीन्द्र सम्मतो वत्सलः। वत्सलश्च रस इति तेन स दशमो रसः।

> स्फुटं चमत्कारितया वत्सलञ्च रसं विदुः।
> स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥[२]

पन्द्रहवीं सदी में चैतन्य महाप्रभु की भक्ति भावना से प्रेरित होकर गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय वाले भक्तों और आचार्यों ने भक्ति की रसात्मकता प्रमाणित की। भक्ति के लिए विभिन्न भावों के अनुरूप इसके अनेक भेद प्रभेद किये गये। सैद्धान्तिक स्थापना की दृष्टि से भक्तिरस को लेकर विद्वानों में मतभेद बना हुआ

---

१. दण्डी : काव्यादर्श— २-२७५

२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण— ४-२३१

है । एक तो देवादि विषया रति को लेकर भक्ति भाव की दीर्घ परम्परा सुदूर अतीत काल से बनी हुई । साथ ही, चिन्मुख श्रृंगार अथवा शान्तरस में इसका अन्तर्भाव संगत लगता है । यों तो पण्डितराज जगन्नाथ जैसे आचार्य ने वत्सल और भक्ति दोनों को रसत्व से वञ्चित कर भाव ही कहा है ।

वात्सल्य और भक्ति विषयक रति मानव की मूलभावनाओं में हैं । अतः इन्हें अन्य नौ स्थायी भावों की तरह स्वतन्त्र स्वीकृति देने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है ।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि रस एक मानसिक अवस्था मात्र है, उसकी भाव-भूमि है । भाव की अनन्तता भी स्वतः सिद्ध है । साथ ही, भाव अथवा स्थायी भावों में एकाधिक भावों का संम्मिश्रण रहता है । एक प्रधान रहता है तो दूसरा गौण । कभी कभी दोनों अंगांगीभाव से सह-संबद्ध रहते हैं । वाल्मीकि का रामायण-महाकाव्य करुण-रस का अथाह सागर है, किन्तु उसके पाठसे करुण के शोक भाव के साथ कहीं-कहीं श्रृंगारमूलक रति भाव का आस्वाद भी एक ही समय में होता है । कहने का तात्पर्य है, स्थायी भाव हैं तो स्थायी किन्तु उनके साथ एकाधिक भावों की उत्पत्ति भी स्वाभाविक है । यही कारण है कि शास्त्रोक्त नव अथवा एकादश रसों के विवेचन में विवेकी आचार्यों की मान्यता रही है कि उनमें अन्तर्भाव सहज है । परिणामतः रस-संख्या-निर्धारण की निश्चितता नहीं है ।

आदि मुनि भरत ने ही माना कि श्रृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स—चार मूल रस हैं, जिनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्‌भुत और भयानक की निष्पत्ति गुम्फित है ।

> श्रृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
> वीराच्चैवाद्‌भुतोत्पत्तिः बीभत्साच्च भयानकः ॥
>
> श्रृंगारानुकृतिर्यातु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः ।
> रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयो करुणो रसः ॥

वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयः स तु भयानकः ॥[१]

इतना ही नहीं, शृंगार की अनुकृति ही हास्य में होती है। रौद्र और करुण का समान कर्म है। इसी प्रकार वीर का जो कर्म है, वही अद्‌भुत का होता है। बीभत्स का दर्शन भयानक का दर्शन है।

शृंगार रस में स्थायी भाव रति है, उसके व्याख्यान में भरत की स्थापना है।

तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः। यथा यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणानुमीयते।[२] इस जगत् में जो कुछ पवित्र है, मेध्य अथवा योग्य है, उज्ज्वल है तथा दर्शनीय या आकर्षणीय है उन सब की प्राप्ति शृंगार में हो जाती है। लगता है— भरत की दृष्टि में सभी रसों का मूल शृंगार ही है।

मनोवैज्ञानिकों ने जीवन की सभी एषणाओं में काम वा रति को मूल माना है। क्रियात्मक रूपों में हास्य, क्रोध, आदि रति से उत्पन्न हैं। रति की पूर्ण प्राप्ति अथवा निवृत्ति में शम भाव है। इस प्रकार शृंगार को मूल रस मानने में संगति है।

इस प्रसंग में भरत के निम्न पद द्रष्टव्य हैं :

प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते।
न चेच्छागुणसंपन्नो बहुधा काम इष्यते।
धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च॥

स शृंगार इति विज्ञेय उपचारकृतः शुभः।
सर्वः प्रायेण लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा॥[३]

---

१. भरत : तत्रैव ६-४६ की वृत्ति, पृ० ९५

२. नाट्यशास्त्र– ४०, ४१, ४२

३. भरत : तत्रैव, २२-८९, ९०, ९३

भरत की उपर्युक्त रतिविषयक स्थापना से परवर्ती काल में कवियों तथा आचार्यों ने अपनी रुचि के अनुसार एक अथवा एकाधिक रसों की प्रधानता प्रतिपादित की है।

ई० सातवीं सदी में प्रख्यात नाटककार भवभूति ने करुणरस को मुख्य माना है और उनकी दृष्टि में अन्य सभी रस उससे ही अद्‌भूत हैं अथवा करुण के ही प्रकरान्तर रूप हैं। उनका प्रसिद्ध पद्य है:

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्न : पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥[१]

एक ही रस है करुण। वही रस निमित्तभेद से शृंगारादि विभिन्न रूपों को प्राप्त करता है, जिस प्रकार जल परिस्थितिवश भूमि, बुद्बुद, ऊर्मि आदि विभिन्न रूपों को धारण करता है, किन्तु वे सभी रूप उसी जल से अपृथक् उसके विकारमात्र हैं।

अभिनवगुप्त ने नवम रस के रूप में शान्तरस का समर्थन ही नहीं किया, रसास्वाद के समग्र सभी रसों का शान्त रूप ही माना है। **तत्र सर्वरसानां शान्त प्राय एवास्वादो न विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या।**[२]

सरस्वती कण्ठाभरण के आचार्य भोजराज ने शृंगार को ही मूल रस माना और उसी से अन्य रसों की उत्पत्ति प्रमाणित की। उन्होंने रस की मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक व्याख्या की और माना कि रसोत्पत्ति का मूल अहङ्कार है और अहङ्कार, रस और शृंगार तीनों पर्याय ही हैं।

---

१. भवभूति : उत्तररामचरित– ३-४७

२. अभिनवगुप्त : अभिनवभारती– पृ० ३३९

रसोऽभिमानोऽहङ्कार : शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते ।।[१]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने चमत्कार या चित्तविद्रुति को रस का सार माना है और इसी के आधार पर उन्होंने चित्त विद्रुति रूप विस्मय स्थायी भाव के अद्‌भुत रस को प्रधान रस तथा अन्य रसों को अद्‌भुत के अंग के रूप में ग्रहण किया है। इसके पोषण में उन्होंने अपने प्रपितामह श्री नारायण का प्रमाण वाक्य रखा है, जैसा कि धर्मदत्त ने कहा है।

तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे।
रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः।
तस्माद‌द्‌भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।।[२]

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के गोस्वामियों ने भी पूर्वप्रचलित परम्परा के अनुरूप भक्तिरस को मूल रस माना और उसमें अंन्य लौकिक रसों को समाविष्ट कर दिया।

संस्कृत-साहित्य मीमांसा-शास्त्र जितना विशाल है, उतना ही विचित्र है। चाहे रस-चिन्तन हो, रीति-चिन्तन हो अथवा अलङ्कार-चिन्तन। कहीं भी दुराग्रह नहीं है। सभी सम्प्रदायवादियों ने अपने मत को प्राथमिकता दी है, किन्तु अन्य सम्प्रदाय की मान्यता का विरोध न कर अपने मतवाद में समाविष्ट कर लिया है। भामह, दण्डी, रुद्रट आदि आचार्य रस मान्यता से अवगत हैं, किन्तु रस की स्वतंत्र प्रसिद्धि की स्वीकृति न देकर उसे उन्होंने रसवत्, प्रेयस् आदि अलङ्कारों के नाम दिये हैं। रीतिवादी आचार्य वामन ने रस को गौण माना है, किन्तु उन्होंने भी रसयुक्त गौण को कान्तिगुण कहा है। इसी प्रकार ध्वनिवादी आचार्य ने रस-ध्वनि को सर्वोपरि रखा है, किन्तु उन्होंने वस्तु और अलङ्कार को भी ध्वनि में समाविष्ट कर

---

१. भोजराज : सरस्वतीकण्ठाभरण– ५-१

२. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण परिच्छेद, वृत्ति, पृ० – ३८५

लिया है। वक्रोक्तिकार कुन्तक एक साथ अलङ्कारवादी और रसवादी हैं, किन्तु वक्रता कवि कौशल व्यापार और भाषिक चमत्कार को अलङ्कृति रूप वक्रता में रखा है।

भरत से लेकर ई० सोलहवीं-सतरहवीं सदी के जगन्नाथ तक प्राय: दो हजार वर्षों का रस विषयक व्याख्यान रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत है। किन्तु अलङ्कारवादी आचार्य रुद्रट ने अपने ग्रन्थ **काव्यालङ्कार** मे रस और स्थायी भावस्वरूप के प्रसंग में जो मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं, उनसे रस चिन्तन में नया आयाम मिलता है। साथ ही, उस प्रकार का विवेचन हमारे उदार पन्थीं आचार्यों की उदार मनीषा का परिचायक है।

रुद्रट के वाक्य हैं :

शृङ्गारवीरकरुणाबीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसः सर्वे॥[१]

स्नेहप्रकृति : प्रेयान्।[२]

तथा—

रसनाद् रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥[३]

नौ रसों के साथ प्रेयान् रस का नामोल्लेख है। प्रेयस् संभवतः वत्सल है, क्योंकि स्थायी भाव के रूप में उसकी पद्धति स्नेह- कथित है। रस रसन अथवा आस्वाद्य है। उसकी संख्या की सीमा निर्धारित नहीं हो सकती, क्योंकि कोई भी भाव रस में परिणत हो सकता है।

---

१. रुद्रट : काव्यालङ्कार– १६, पृ० १५०

२. रुद्रट : तत्रैव– १६, पृ० १६६

३. रुद्रट : तत्रैव– १२-४, पृ० १५०

भाव और रस के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर इस तरह का विवेचन अन्यत्र अप्राप्य-सा है ।

न भावहीनो रसः, न रसो भाववर्जितः कथन का औचित्य असन्दिग्ध है । किन्तु मानना होगा कि मूलाधार भाव ही है । रस तो उसका आस्वादन मात्र है, जो काव्य में कवि द्वारा वर्णित विषय वस्तु, उसकी प्रकाशन-भंगिमा पाठक अथवा श्रोता की मानसिक स्थिति पर निर्भर है । रस उन सब का परिवेशन है । उसे भावोपलब्धि की संज्ञा भी दी जा सकती है ।

भारतीय रस-चिन्तन में रस को आध्यात्मिकता से रंग कर उसकी परिव्याप्ति सीमित कर दी गई है । ब्रह्मवाद की एकता के अनुसरण में शृंगार, अद्‌भुत, शान्त, अथवा भक्ति किसी एक में सीमित कर देने से रस की व्यापकता नष्ट हो जाती है । साथ ही, ऐसी मान्यता लोकानुभव के विरुद्ध होती है । काव्य जीवन की प्रतिच्छवि है । व्यक्ति-जीवन हो अथवा समष्टि-जीवन उसकी जटिलता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । आधुनिक काल में तो सामाजिक, राजनैतिक, अर्थनैतिक, वैज्ञानिक समस्याओं से जीवन और भी अधिक जटिल हो गया है । उसके साथ भावों की जटिलता भी उत्पन्न हो गई है ।

काव्य कवि की सृष्टि है । उसमें कवि की आत्माभिव्यक्ति है । द्रष्टा के रूप में वह रूप-रस-गन्ध-युक्त वास्तविक जगत् को देखता है, उसकी गतिविधि से प्रभावित होकर वह अपनी भाव-सृष्टि काव्य में करता है । वही भाव भावित होकर दूसरों के प्रति संवेद्य होता है । दशरूपककार धनञ्जय ने वस्तु जगत्, कवि-भाव और रसबोध को लेकर ठीक ही कहा है :

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥[१]

---

१. धनञ्जय : दशरूपक– ४-८५, पृ० ११०

काव्य द्वारा कवि अपने भावों अथवा विचारों को उपयुक्त भाषिक माध्यम से सम्प्रेषित करता है । रागमयता अथवा भावमयता काव्यभाषा की विशिष्टता है । इस प्रकार काव्य का मूल तत्व सम्प्रेषण है । भाव सम्प्रेष्य है, तो रस सम्प्रेष्य भाव की उपलब्धि । यह एक विशिष्ट अनुभूति है ।

रसोद्बोध में विभावादि उपकरण बाह्य हैं और रति प्रभृति स्थायी भाव का रस-भाव पाठक सामाजिक के चित्त में आश्रय प्राप्त कर आन्तरिक पक्ष है । ये दोनों पक्ष रस के सम्प्रेषण के आधार हैं, **रसनेन्द्रियग्राह्यो गुणः रसः**—मनुष्य के रसनेन्द्रियों से ग्राह्य गुण रस है, यह रस की सही परिभाषा है । आचार्य विश्वनाथ ने भी कहा है : **रसनादिति रसः**

भरत ने कहा था : **कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भावमुच्यते** । मानस में रस का बीज है जिसे कवि काव्य के मध्यम से उसे सम्प्रेषित करता है । इस सम्प्रेषण में काव्य की वस्तु, कवि का भाषाप्रयोग, पाठक का पाठ-नैपुण्य आदि सहायक उपकरण हैं । अलङ्कारवादी दण्डी ने भी स्वीकारा है :

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रस-स्थितिः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥[१]

इस प्रकार रस एक प्रकार की भाषिक अभिव्यक्ति है । जिसमें प्रीति, विस्मय, कौतूहल आदि भाव विभिन्न रसों के रूप में सम्प्रेषित हैं ।

किन्तु परवर्त्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने रस की सूक्ष्मता से सूक्ष्मतर व्याख्या कर **विगलित वेद्यान्तर आनन्द** अथवा **अलौकिक आनन्द** की स्थापना की है, जिससे लौकिक अनुभूति गौण हो जाती है । रस विषय न रह कर विषयी बन जाता है । वह आस्वाद का अर्थ लेकर आत्म-परामर्श अथवा आत्मस्वाद का माध्यम है । शैवाद्वैत की भूमिका में रस का एक ही अर्थ है आनन्द । और आनन्द विषयगत न रह कर विषयीगत होता है ।

---

१. दण्डी : काव्यादर्श, १-५१, पृ. ५६

यह स्वीकार्य है कि भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी भारतीय आचार्यों ने माना है कि काव्य का मुख्य प्रयोजन ऐकान्तिक आनन्द है। व्यवहार ज्ञान, शास्त्रादि ज्ञान आदि भी प्रयोजन कथित हैं। किन्तु आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः कहा है कि ऐकान्तिक आनन्द का एकमात्र उपाय रस अथवा रसबोध है:

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां न वा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥[१]

प्रकारान्तर से **अभिनवगुप्त** ने भी कहा : **सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यम्, न शोकादिफलम्।**'[२] नाट्याभिनय दर्शन में सामाजिक दर्शकों को नाट्य से केवल आनन्द की प्राप्ति होती है। आगे चलकर श्रव्य तथा दृश्य दोनों काव्यों का प्रयोजन उनकी दृष्टि में आनन्द ही है : **अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का ? केवलं तस्यैव चित्रताकरणो रतिशोकादिवासना व्यापारः।**[३]

अभिनवगुप्त के अनुसार आत्म-विश्रान्तिमयी आनन्द-चेतना ही रस है।

सर्वथा रसनात्मक-वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः॥[४]

ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य-सौन्दर्य को अर्थगत अथवा भावगत सौन्दर्य में सीमित कर दिया। भावगत सौन्दर्य रूपगत सौन्दर्य से अधिक आकर्षक होता है। इससे किसी भी विवेकी व्यक्ति की असहमति नहीं हो सकती। किन्तु उसी में रस के रसत्व के ग्रहण से सम्प्रेषण की व्यापकता समाप्त हो जाती है। काव्य केवल भाव-विधान नहीं है। उसका वस्तुपक्ष भी उतना ही प्रबल है जितना भावपक्ष। कभी-कभी तो बिना रस के भी काव्य-सृष्टि हो सकती है। अनेक सन्देश वाक्य

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, उद्योत-३, पृ० ३९२

२. अभिनवगुप्त : अभिनव भारती– पृ० २८९

३. अभिनव गुप्त : तत्रैव– पृ० २९२

४. अभिनवगुप्त : तत्रैव– पृ० २८०

आकर्षक भाषा शैली में अभिव्यक्त होकर पाठक को उतना ही प्रभावित करते हैं, जितना रसाप्लावित काव्य। उदाहरणस्वरूप कालिदास के मेघदूत का सन्देश वाक्य—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

अथवा भारवि का लोकनीतिपरक दर्शन **समुनयनभूतिमनार्यसंगमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः** खण्डकाव्य और महाकाव्य से पृथक् उपन्यस्त भी स्वतः काव्य का अप्रतिम रूप है।

भारतीय दर्शन में आनन्द को सर्वोपरि माना गया है। **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति** इति तथा **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति** आदि उपनिषद् वाक्य इसके प्रमाण हैं।

एतदनुरूप भारतीय दर्शन में मनुष्य की पाँच सत्ताएँ मानी गई हैं : **अन्नसत्ता, प्राण-सत्ता, मनोमयी सत्ता, विज्ञान-सत्ता** और **आनन्द-सत्ता**। अन्न-सत्ता और प्राण-सत्ता सभी प्राणियों में विद्यमान हैं। मनोमयी सत्ता, विज्ञान-सत्ता और आनन्द-सत्ता की उपलब्धियों से मानव अन्य पशु-प्राणियों से भिन्न होता है। मानव की ज्ञान-सत्ता और उसकी आनन्द-चेतना उसे अन्य पशु-प्राणियों से अलग करती हैं। उसकी ज्ञानमयी और भावमयी तृष्णाएँ साहित्य-साधना से ही तृप्त होती हैं। इसीलिए तो भर्तृहरि ने कहा है :

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्-
तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥[१]

---

१. भर्तृहरि : शतकत्रय, नीति-शतक– १-१२

साहित्य, संगीत और कला के ज्ञान से विहीन व्यक्ति साक्षात् लाङ्गुल या पुच्छहीन पशु ही है। यह उसके महत् सौभाग्य की सूचना है कि तृणादि के भक्षण के अभाव में वह जीवित है।

ज्ञान और भाव की तृष्णाओं की संतुष्टि में आनन्द है। वह रस से अभिन्न है, क्योंकि वह आस्वादरूप है। रति, शोक, क्रोध, निर्वेद आदि सभी भावों का रस-रूप आनन्द ही है। अंग्रेजी कवि शेली का प्रसिद्ध वाक्य है : **हमारे मधुरतम गीत शोक-प्रकाशक ही हैं**। वाल्मीकि की काव्य-रचना रामायण के लिए कालिदास की मान्यता है : **क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगस्थः शोकः श्लोकत्वमागतः**। यह महाकाव्य महनीय है। इसके पाठ अथवा श्रवण से किस सहृदय को आनन्द नहीं मिलता?

काव्यपाठ हो या नाट्याभिनय-दर्शन, पाठक अथवा दर्शक की मानसिक अवस्था रसानुभूति में संश्लिष्ट होती है। विषय-वस्तु के अर्थग्रहण में कौतूहल है तो वर्णित भाव में सहानुभूति मूलक तादात्म्य है। जब दैनन्दिन जीवन मे हम दुखी होते हैं, तो वेदना का अनुभव होता है। अपने से सहानुभूति का प्रश्न नहीं उठता है। किन्तु जब अभिज्ञान शाकुन्तल में निर्दोष शकुन्तला का प्रत्याख्यान होता है, तब तत्काल दुःख होता है। किन्तु उसके साथ संवेदना का भाव जाग्रत होता है। संवेदनात्मकता के कर्तव्यपालन से परिणाम आनन्दमूलक हो जाता है, जिसे हम काव्यात्मक उपलब्धि अथवा भरत के शब्दों में 'विश्रान्ति' कह सकते हैं। यह विश्रान्ति आनन्दरूप ही है। यही रसानुभूति है। इसे सर्वथा अलौकिक अथवा विगलित वेद्यान्तर कहना सर्वस्वीकार्य नहीं है। काव्य की रसानुभूति लौकिक होकर भी विशिष्ट है। उसमें विशेष का परिहार हो जाता है और सामान्य बोध से परिणति आनन्दरूप ही है। वास्तविक जीवन के सुख-दुःख क्षणिक होते हैं, किन्तु रसानुभूति से प्राप्त आनन्द सदा सुखदायी होता है। मल्लराज ने इसी भाव को यों व्यक्त किया है :

सुखं तदेव कथितं नरो यत्र प्रवर्तते।
दुःखं तदेव कथितं नरो यस्मान्निवर्तते॥

अतस्तु लौकिकं यत्तु तदेव दुःखवर्धनम्।
रसरूपं यदेतच्च सर्वं हि सुखसुन्दरम्॥
बीभत्सेऽपि रसे तज्ज्ञैरेव ज्ञेयं न चान्यथा।
रसनीयं च यद्वस्तु सर्वं तत्सुखमेव च॥[१]

निष्कर्ष, रसास्वाद एक अनुभूति विशेष का परिणाम है जिसे विश्रान्ति की संज्ञा दी जा सकती है। जैसा कि भरत ने कहा है:

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
'विश्रान्ति' जननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम्॥[२]

● ● ●

---

१. मल्लराज : रसरत्नाकरदीपिका– ६-६४,६५

२. भरत : नाट्यशास्त्र, १-११४,११५

चतुर्थ अध्याय

काव्य के उत्कर्षक और अपकर्षक

काव्य भाव और भावाभिव्यक्ति का जीवन्त रूपायण है । उसके निर्माण में कुछ उपादान उत्कर्ष विधायक हैं और कुछ अपकर्ष विधायक । आचार्य विश्वनाथ के वाक्य हैं :

दोषास्तस्यापकर्षकाः ।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः ॥[१]

काव्य में दोष अपकर्षक होते हैं और गुण, अलंकार और रीति उत्कर्षक हैं ।

यह आवश्यक है कि काव्य का प्रत्येक अंग स्वतः सुन्दर और निर्दोष हो । काव्य में शब्द, रीति, गुण, अलंकार, विभावार्दि उसके बाह्य रूपक विभिन्न अवयव हैं । शब्द शरीर है और शब्दार्थ उसका आत्म अथवा प्राणरूप । शरीर की सुस्वस्थता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके बाह्य अंग संयुक्त रूप से सुन्दर शरीर का निर्माण करें जिससे स्वस्थ सुन्दर शरीर उपयुक्त रस से प्राणान्वित हो । काव्यात्मभूत शरीर के तीन मुख्य उत्कर्षक विधायक हैं— अलंकार, गुण और रीति । उनको ध्यान में रखकर ही आचार्य-मम्मट ने काव्य की परिभाषा दी :

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।[२]

---

१. विश्वनाथ : साहित्यदर्पणः— १-४ तथा ५

२. मम्मट : काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास— पृ०८

दोषरहित, गुणयुक्त, अलंकार सहित, कहीं-कहीं अलंकार रहित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। इस प्रकार की मान्यता महाराज भोज की है :

निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति॥[१]

काव्य और अलंकार—

काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि में अलंकार का महत्त्व प्राचीनकाल से स्वीकृत है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रधान प्रस्थानों में एक अलंकार-प्रस्थान है। वाणी को अलंकृत करने की सहज प्रवृत्ति और रुचि मानव में है। सरल और सीधे शब्दों में मानव अपने भावों को व्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम नहीं होता है। प्रबल भाव और प्रबल अनुभूति को प्रबल शब्दों में व्यक्त करने की आवश्यकता वक्ता को होती है।

काव्य की भाषा भावात्मक होती हैं। भाव प्रकाशन के लिए कवि की कल्पना सहज भाव से अलंकार का प्रयोग करती है। अलंकार काव्यशरीर के सौन्दर्य से अभिन्न रहता है। अनलङ्कृत काव्य सुन्दर नहीं होता है। इसीलिए भामह ने कहा है :

न कान्तमपि निर्भूषं विभातिवनितामुखम्।[२]

सुन्दरी का सुन्दर मुख भी अलंकारहीन होकर सुन्दर नहीं लगता है।

काव्य में सौन्दर्य के लिए बहुधा अलंकार शब्द का प्रयोग किया जाता है। काव्यशास्त्रियों के मध्य अलंकार के स्वरूप और प्रयोग को लेकर पर्याप्त मतभेद हैं। किन्तु अलंकार से काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है, उस मान्यता से कोई भी विवेकी काव्यशास्त्री असहमत नहीं है। भरत से लेकर आज तक सभी आचार्यों ने काव्य में अलंकार को आवश्यक तत्त्व माना है।

१. भोज : सरस्वती कण्ठाभरण– १-२, पृ० २
२. भामह : काव्यालङ्कार– १-१३, पृ० ७

भाषा स्वयं अलंकार रूप है। भाषा में प्रयुक्त शब्द प्रतीक स्वतः रूपक हैं। काव्य-जगत् में कवि अपनी उक्ति को अधिकाधिक चमत्कारपूर्ण और प्रभावोत्पादक रूप में व्यक्त करने के लिए अलंकार का प्रयोग करते हैं। कवि की प्रतिभा से समुद्भूत सौन्दर्य के व्यापक अर्थ में अलंकार माना जाता है। परिणामतः अलंकार सौन्दर्य का पर्याय बन गया है जैसा कि कहा गया है:— **सौन्दर्यमलङ्कारः**।[१]

काव्य-सौन्दर्य भावगत होता है, साथ ही भावाभिव्यक्तिगत। अभिव्यक्ति-गत सौन्दर्य का सञ्चार अलंकार-प्रयोग में सर्वाधिक होता है, अभिव्यक्ति वाच्य अथवा भाव के उपस्करण के रूप में होती है। अलंकार भाव का उपस्कारक भी होता है। अतः अलंकार-शब्द और अर्थ, वाच्य और वाचक दोनों का उपस्कारक माना जाता है।

अलंकार शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ होती हैं— एक भाव में और दूसरी करण में। **अलम् + कृ + घञ् = अलङ्कारः, अलम् + कृ + ल्युट् = अलङ्करण** तथा **अलम् + कृ + क्तिन् = अलङ्कृति**, तीनों प्रत्यय भावार्थक हैं। संस्कृत के पूर्वाचार्यों ने अलङ्कार का ग्रहण इसी अर्थ में किया है। **वामन** की स्थापना है : **अलङ्कृतिरलङ्कारः**।[२] फलतः अलङ्कार को सौन्दर्य का पर्याय मानकर **वामन** ने अलङ्कारयुक्त काव्य को ग्राह्य और अलङ्कारहीन काव्य को अग्राह्य माना। **काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्**।[३]

अलङ्कार शब्द की दूसरी व्युत्ति **करणे** है : **अलङ्क्रियते अनेन इति अलङ्कारः**। वह तत्त्व जो काव्य को अलङ्कृत अथवा सुन्दर बनाने का साधन हो। यह अर्थ परवर्ती आचार्यों द्वारा गृहीत हुआ, जब काव्यशास्त्र में ध्वनिकाव्यवाद की प्रतिष्ठा हुई। अलङ्कार अर्थात् साधक माना गया और भाव अलङ्कार्य। **ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन** का मत है:

---

१. वमन : काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति– १-१-१

२. वामन : तत्रेव- १ पृ० ५

३. वामन : तत्रैव– १-१-१

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥[१]

अलङ्कार की विवक्षा से रस को प्रधान मानना ही होगा। अलङ्कार का ग्रहण अङ्ग के रूप में होना चाहिए, अङ्गी के रूप में कदापि नहीं। रस ही अङ्गी है और वही अलङ्कार्य है। इसके विपरीत अलङ्कार की सार्थकता अंग के रूप में ही है, उसकी सार्थकता रस अथवा भाव के उत्कर्षवर्धन में होती है।

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥

तथा—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्॥[२]

काव्य-सौन्दर्य के उपर्युक्त निरूपण में अलङ्कार शब्द का अर्थ पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित अर्थ की अपेक्षा सीमित हो गया। अलङ्कार करण अर्थ की व्युत्पत्ति में ही मान्य हुआ, जहाँ अलङ्कार से काव्य की शोभा उत्पन्न होती है। इसप्रकार शब्दार्थ विश्लेष में भाव से भिन्न उपादान के रूप में अलङ्कार की स्वीकृति है। मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों की मान्यता इस अर्थ को लेकर है।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥[३]

अलङ्कार हारादि आभूषणों की तरह काव्य के शरीरभूत शब्द को और प्राण रूप अर्थ व भाव-रस को भूषित करते हैं। अलङ्कार अङ्ग हैं और ये प्रकारान्तर से यदाकदा, नित्य रूप से नहीं, अङ्गी का उपकार तथा उत्कर्ष करते हैं।

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– २-४१, पृ० ९६।

२. आनन्दवर्धन : तत्रैव– कारिका २८ और ४०

३. मम्मट : काव्यप्रकाश– अष्टम उल्लास – पृ० ४५२

निष्कर्ष, अलङ्कार का बाह्य रूप अथवा कलापरक पक्ष है । यह काव्यसौन्दर्य का प्रबल साधन है । अलङ्कार का प्रयोग कभी स्फुट रूप से कभी अस्फुट रूप से होता है ।

भाषिक दृष्टि से भावाभिव्यक्ति में अलङ्कार की स्वनिष्ठता है । भाषा स्वत: प्रतीक है, और अभिव्यक्ति में अलङ्कार-प्रयोग स्वाभाविक काव्य है । एतदर्थ निरलङ्कार काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती है । अलङ्कारवादी जयदेव की मान्यता है कि काव्य को अलङ्कारहीन मानना मानो अग्नि को उष्णता-विहीन कहना है ।

अङ्गीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यन्ते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ।।[१]

इसलिए उन्होंने काव्य की परिभाषा दी है :—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुण भूषिता ।
सालङ्काररसानैकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् ।।[२]

उपर्युक्त विवेचन से यह निर्णीत होता है कि काव्य में अलङ्कार की उपयोगिता है । किन्तु यह भी स्वीकार्य है कि अलङ्कार तभी काव्य में शोभाकर है जब उसका प्रयोग औचित्यपूर्ण हो । सप्राण, स्वस्थ एवं सुन्दर शरीर पर ही आभूषण धारण उचित होता है । **उचितस्थानविन्यासादलङ्कृति: ।**[३] लौकिक आभूषणों की तरह काव्यगत अलङ्कारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग अपेक्षित है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रस्तुत अर्थ के रूप, गुण, क्रिया आदि के उत्कर्ष विधान अथवा प्रभाववृद्धि लेकर काव्य अलङ्कार भाव में समृद्धि लाते हैं । अलङ्कार वस्तुत: अभिव्यक्ति की व्यञ्जना हैं । जब वाणी अलङ्कृत होकर कवि

---

१. जयदेव : चन्द्रालोक– १-८

२. जयदेव : तत्रैव– १-७

३. क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा– पृ० ६

की अनुभूति को व्यक्त करती है, तभी विशेष चमत्कार उत्पन्न होता है। कुन्तक ने ठीक ही कहा है :

> लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
> काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥[१]

साथ ही, विच्छिति, अभिधान के विशेष प्रकार अथवा उक्तिभङ्गी आदि को अलङ्कारलक्षण मानने से काव्य के तत्त्व और रूप में अविभाज्य सम्बन्ध स्थापित होता है।

> अलङ्कृतिरलङ्कृतमपोद्धृत्य विवेच्यते।
> तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता ॥[२]

एतदर्थ अलङ्कार-प्रयोग की सार्थकता कवि के आयाम पर निर्भर करती है। भाव अथवा रस के निरूपण में दत्तचित, प्रतिभावान् कवि के समक्ष अलङ्कार अनायास निस्सृत होते हैं, तभी रसानुकूल रूप में समाविष्ट होकर अलङ्कार काव्य को आकर्षक बनाते हैं। यदि अलङ्कार-नियोजन भावमूलक है, तभी अलङ्कार की अलङ्कारता है। अलङ्कार की सार्थकता तभी है जब अनायास अथवा भावानुगत होकर वह वर्ण, ध्वनि, शब्द अथवा अर्थ-उत्कर्ष के रूप में प्रयुक्त हो। अनुचित विन्यास से अलङ्कार काव्य-शोभा का बाधक ही बन जाता है। वह काव्य का उत्कर्षक नहीं रह जाता है। उसे अपकर्षक कहना ही सङ्गत होगा।

काव्य और गुण—

गुण के स्वरूप और संख्या-निर्धारण लेकर आचार्यों में मतभेद हैं। किन्तु उत्कर्षक के रूप में गुण की काव्यनिष्ठता और प्रयोजनीयता की स्वीकृति सभी आचार्यों ने एकस्वर से की है।

---

१. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित– १-२
२. कुन्तक : तत्रैव– १-६

राजशेखर ने अपने ग्रन्थ **'काव्यमीमांसा'** में गुण के सर्वप्रथम काव्यशास्त्रीय निरूपण का श्रेय **उपमन्यु** नामक आचार्य को दिया है। किन्तु उपमन्यु का कोई गुणौपादानिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध प्रमाणों में गुण का प्रथम आलेख भरत के नाट्यशास्त्र में प्राप्त है। वहाँ गुण की परिभाषा निषेधमूलक वाक्य में दी गई है, क्योंकि गुण को दोष का विपर्यस्त या विपरीत माना गया है।

एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः ।।[१]

भरत द्वारा निरूपित दस दोष हैं— गूढ़ार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत।

गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ।।[२]

उनके अनुसार काव्य के दश गुण हैं— श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, औदार्य तथा कान्ति।

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ।।[३]

उपर्युक्त दस गुणों का विभागीकरण शब्दगत तथा अर्थगत रूपों में नहीं किया गया है। किन्तु गुणों की परिभाषा से स्पष्ट है कि कुछ गुण शब्दगत हैं और कुछ अर्थगत। उदाहरण स्वरूप, अर्थव्यक्ति की परिभाषा में कहा गया है :

सुप्रसिद्धाभिधाना तु लोककर्मव्यवस्थिता।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते ।।[४]

---

१. भरत : नाट्यशास्त्र– १७-९४

२. भरत : नाट्यशास्त्र– १७-८७

३. भरत : तत्रैव– १७-९५

४. भरत : तत्रैव– १७-१०३

जिस रचना में लोक प्रसिद्ध अर्थ का सुप्रसिद्ध शब्दों द्वारा अभिधान है, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण ख्यात है। यहां प्रसिद्ध पद प्रयोग से वस्तुस्वभाव का वर्णन है। इस प्रकार स्वरूप से और नाम से अर्थ की अभिव्यक्ति की प्रधानता कथित है। इसी प्रकार सौकुमार्य को पद सौकुमार्य कह कर शब्दगतता की सूचना दी गई है। प्रसाद में शब्द और अर्थ दोनों का कथन है।

अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते।
सुखशब्दार्थसंयोगात् प्रसादः स तु कीर्त्यते॥ [१]

यह स्वीकार्य है कि भरत ने काव्य में गुण का स्थान-निर्धारण किया और काव्य में उसकी उपयोगिता भी बताई, किन्तु गुण, रीति तथा अलङ्कार उपकारक तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा काव्य में उनका स्थान जिस रूप में परवर्त्ती आचार्यों ने किया है, वैसा विवरण अप्राप्त है। गुण की विधिमूलक अथवा स्वायत परिभाषा भी भरत द्वारा नहीं दी गई है। तथापि समता गुण के भक्षण में गुण और अलङ्कार को समान रूप से काव्य का उत्कर्षक माना है।

भरत के पश्चात् भारतीय काव्यशास्त्र के गुण तत्त्व की मौलिक उद्‌भावना भामह के काव्यलङ्कार में प्राप्त होती है जहाँ उन्होंने भाषिक आधार पर गुण का स्वरूप विवेचन किया। श्रुतिसुख, अर्थप्रतीतिसुलभ तथा दीर्घसमास युक्त पदत्रय लेकर उन्होंने माधुर्य, प्रसाद तथा ओज— गुणत्रय की स्थापना कर भरत के दस गुणों का खण्डन प्रस्तुत किया। इन तीनों से भिन्न तत्त्वों का समावेश अलङ्कारों में किया गया। काव्यालङ्कार में गुण का महत्त्व रीति से सम्बद्ध निरूपित किया गया है।

गुण का स्पष्ट लक्षण सर्वप्रथम वामन के **काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति** ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। **काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः**—काव्य सौन्दर्य के विधायक धर्म गुण हैं। [२] यह ध्यातव्य है कि आगे चलकर तथाविध लक्षण दण्डी

---

१. भरत : नाट्यशास्त्र– १७-९७

२. वामन : काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३-११

द्वारा अलङ्कार के लिए रखा गया। वामन रीतिवादी आचार्य थे। उनके अनुसार रीति के साथ गुण का अविच्छेद सम्बन्ध है। उनके अनुसार रीति काव्य की आत्मा है। रीतिविधायक तत्त्व गुण हैं। गुण विशिष्ट अथवा गुणसम्पन्न पद रचना रीति है। **विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।**[१] गुण से युक्त पदरचना रीति है और रीति से गुण की सहबद्धता है, आदि कथन में गुण का व्यापक स्वरूप वामन द्वारा निर्धारित है। निष्कर्ष, उनके अनुसार बन्धगुण शब्दगत गुण है और अर्थगत गुण आन्तरिक सद्भाव है। इस प्रकार गुण रसादि में समाविष्ट है। उन्होंने कान्ति को रसमय माना है : **दीप्तरसत्वं कान्तिः।**[२]

उत्तर काल में गुण स्वरूप और संख्या निर्धारण को लेकर दो सरणियाँ हो गईं। एक भरत का प्रयोगिक मत और दूसरा ध्वनिवादी का तात्त्विक मत। एक तरफ दण्डी, वामन जैसे पूर्वकालिक आचार्यों ने स्पष्ट रूप से अथवा प्रकारान्तर रूप से गुण को काव्य अथवा शब्दार्थ का धर्म माना, तो ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने गुण को रसास्रित कर गुण विवेचन में एक नवीन दिङ्निर्देश किया। आनन्दवर्धन के मतानुसार गुण मुख्यतया रसाश्रित अथवा रसधर्म है, किन्तु उसे उन्होंने उपचारवृत्ति से गुण को शब्दाश्रित माना।यह स्वतः सिद्ध है कि माधुर्यादि गुण शृङ्गारादि रसों के अनुकूल होते हैं। रौद्र आदि में चित्त की दीप्ती अपेक्षित होती है। अतः रौद्रादि रसों में औज गुण होता है। विशेष गुण विशेष प्रकार के वर्णों से व्यञ्जित होता है। गुण के वर्णौचित्य और संघटनौचित्य को ध्यान में रखकर आनन्दवर्धन ने माना कि गुण असंलक्ष्य क्रम-ध्वनि में प्रकाशक होता है। वस्तुतः असंलक्ष्य रसादिध्वनि वर्ण, पद, वाक्य और संघटना में प्रकाशित होता है।

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते॥[३]

---

१. वामन : तत्रैव– १-२,३

२. वामन : लङ्कार– ३-२

३. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– ३-५८, पृ० १७३

ओज गुण व्यञ्जक वर्णों का उल्लेख करते हुए आनन्द वर्धन का कथन है कि रेफयुक्त श, ष, ढ़ वर्ण शृङ्गार के विरोधी होते हैं। इन वर्णों के प्रयोग से शृङ्गार की अनुभूति में बाधा होती है। किन्तु जब इन वर्णों का प्रयोग बीभत्स आदि रसों में होता है, तो रस-पोषण होता है। अतः अन्वय-व्यतिरेक से वर्ण की रस-व्यञ्जकता सिद्ध होती है।

शषौ सरेफसंयोगौ ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे ते न वर्णा रसच्युताः॥

त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युतः॥[१]

इस प्रकार शास्त्राधार लेकर आनन्दवर्धन ने गुण और संघटना (रीति-पर्याय) को अभेद मानकर गुण-विवेचन में एक नूतन प्रस्थान बनाया।

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥[२]

अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन की मान्यता का समर्थन किया और स्पष्ट रूप से कहा कि रस काव्य का प्राण है, जो ध्वनि-व्यापार से उपलब्ध होता है। गुण रस का धर्म है। अपने मत के स्पष्टीकरण में उन्होंने कहा कि प्रसाद गुण से काव्य का रस अथवा भाव हृदय के सहृदय में प्रसृत होता है। सूखी काठ में जिस प्रकार आग तत्क्षण व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार गुणाधान से रस की प्रसृति होती है। एतदर्थ रसके धर्म के रूप में गुण-ग्रहण अपेक्षित है। व्यंग्यार्थ से शब्द और शब्दार्थ की संपर्कता के चलते उपचार-वृत्ति से शब्द और शब्दार्थ में प्रसाद गुण स्वीकार्य है।

समकर्पत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तृन्प्रति स्वात्मावेशेन, व्यापकत्वं झटिति शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेनाकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्न-

---

१. आनन्दवर्धन : काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति– ३-५९, ६०, पृ० १७४
२. आनन्दवर्धन : तत्रैव– २-२९, पृ० ८२

त्वं नाम सर्वरसानां गुणः । उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे शब्दार्थयोः समकर्पत्वं तदपि प्रसादः । [१]

परवर्ती मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति रसवादी आचार्यों ने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त का समर्थन किया। संस्कृत के सर्वाधिक समर्थ आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने गुण और रस के मध्य धर्म और धर्मी के सम्बन्ध का खण्डन अवश्य किया, किन्तु प्रायोगिक दृष्टि से गुण को शब्द, अर्थ और रचना के साथ रस के धर्म के रूप में स्वीकार करना अभीष्ट हुआ।

सारांश, गुण रस अथवा भाव का गुण है। यह रस का अन्तरंग तत्त्व है, अलंकार, रीति, विभावादि, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, रस के बहिरंग हैं। जिस प्रकार शरीर धारी चेतन आत्मा को माधुर्य, ओज आदि गुण उत्कृष्ट करते हैं, उसी प्रकार काव्य रूपी शरीर में स्थित प्राण भूत रस को गुण उत्कृष्ट बना देते हैं। वस्तुतः शूरता, साहसिकता, माधुर्य आदि गुण मनुष्य के शरीर में न रह कर आत्मा में ही रहते हैं। यदि गुण शरीर में स्थित रहता, तो प्राणहीन शव में भी तथाविध कार्य अथवा गुण देखने को मिलता। एतदर्थ गुण को आत्मा में आश्रित मानना संगत है। रस में गुण की अचल स्थिति स्वीकार्य है। काव्यप्रकाशकार मम्मट की कारिका उद्धरणीय है:

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ [२]

सामान्यतः शृंगार आदि कोमल ललित रसों में माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्णों का प्रयोग अपेक्षित है। इसी प्रकार रौद्रादि कठोर रसों में ओज गुण के प्रकाशक वर्ण अधिक उपयोगी होते हैं। शृंगार रस की रचना ओजोव्यञ्जक वर्णों के प्रयोग से माधुर्य गुण में तदनुरूप शबलीकृत द्रुति नामक चित्तवृत्ति की स्वीकृति है,

---

१. अभिनवगुप्त : लोचन टीका– पृ० ८२

२. मम्मट : काव्यप्रकाश– ८-१, पृ० ४५१

ओजोगुण अथवा तदनुरूप दीप्ति नहीं। तथाविध प्रयोग में वर्णप्रतिकूलता नाम का दोष, उत्पन्न होता है। निष्कर्ष, माधुर्य्यादि गुण रस के धर्म हैं, वर्णाश्रित नहीं।

माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितवर्णै-र्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः।[1]

यहाँ एक प्रश्न सरल उठता है कि यदि गुण रस धर्म है तो सुकोमलता शब्द तथा सुकोमल अर्थ जैसे प्रयोग व्यवहार में क्यों श्रुत और पठित होते हैं? इस समस्या का समाधान मम्मट ने दिया कि यह व्यवहार गौण प्रयोग है। मुख्य रूप से गुण रसाश्रित ही है।

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।[2]

गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर जगन्नाथ का मत मम्मट से भिन्न है। जगन्नाथ अद्वैती थे। अतः रसधर्म के रूप में गुण उन्हें स्वीकार्य नहीं था।वेदान्त की दृष्टि में आत्मा निर्गुण है। पुनः माधुर्यादि गुणों को रसधर्म मानने में प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान भी बाधक हैं। अग्नि का कार्य दाहकता है और गुण उष्णता है। किन्तु उष्णता की प्राप्ति होने पर भी अग्नि सब समय दाह नहीं करता है। साथ ही गुणरस के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष दृष्टान्त घटित नहीं होता है। रस का कार्य द्रुत्यादि चित्त वृत्ति है और चित्तवृत्ति का गुण माधुर्यादि। वस्तुतः द्रुत्यादि ही माधुर्यादि हैं। अतः वे दाह और उष्णता की तरह पृथक-पृथक् नहीं हैं,अपितु एक-रूप हैं। जगन्नाथ के शब्दों में—

तेऽमी माधुर्यौजः प्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्तास्तेषां रसधर्मत्वे किं मानम्? प्रत्यक्षमेवेति चेत् तन्न। दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नस्पर्शतयानुभवस्तथा द्रुत्यादि-चित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्।[3]

---

१. मम्मटः काव्यप्रकाश वृत्ति–पृ० ४५१

२. मम्मट : तत्रैव–पृ० ४६

३. जगन्नाथ : रसगङ्गाधर प्रथममान, गुणप्रकरण– पृ० २२७-२२८

इसी प्रकार अनुमान के आधार पर भी रस और गुण का **धर्म-धर्मि-सम्बन्ध** सिद्ध नहीं होता है। रस माधुर्यादि गुणों से विशिष्ट होकर द्रुत्यादि के कारण हैं। अत: गुण कारणता का अवच्छेदक होता है, अर्थात् रसरूप कारण का विशेष धर्म। अत: अनुमान प्रमाण लेकर भी गुण को रस धर्म की स्वीकृति युक्तिसंगत नहीं है। जब प्रत्येक रस गुणाभाव में भी द्रुत्यादि-चित्तवृत्ति का कारण हो सकता है, रस-धर्म के रूप में गुण की कल्पना ही व्यर्थ है।

तादृशगुण-विशिष्टरसानां द्रुत्यादि-कारणत्वात्कारणतावच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्, प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्॥[१]

इस प्रकार **पण्डितराज जगन्नाथ** की मान्यता होती है कि गुण शब्दार्थधर्म मात्र है तथापि उन्होंने माना है कि शब्दार्थ के साथ-गुण रस का आधार है। इससे गुण का रस-धर्मत्व भी प्रतिपादित हो जाता है। इसका प्रमाण उनके द्वारा दिया गया सिद्धान्त वाक्य ही है जहाँ कहा गया है कि प्रयोजकता (अर्थात् माधुर्यादि तीन गुण) शब्द, अर्थ रस और रचना में ही ग्राह्य है।

प्रयोजकत्वं........ शब्दार्थरसरचनागतकमेव ग्राह्यम्।[२]

द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ रस द्वारा प्रयोज्य हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रस में द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता है। तात्पर्य, रस में इन चितवृत्तियों को उभारने की शक्ति है। माधुर्य आदि गुणों की पृथक् सत्ता नहीं है। ये गुण तो उक्त प्रयोजकता के नाम हैं अर्थात् प्रोयजनकता-प्रोयज्य सम्बन्ध से द्रुत्यादिवृत्तियों के नाम हो जाते हैं। **शृङ्गारो मधुरः**—शृंगार मधुर है—अयुक्त वाक्य-प्रयोग के सम्बन्ध में आचार्य जगन्नाथ का कथन है कि वाजिगन्ध नामक औषधि बाह्य स्पर्श में उष्ण नहीं होता है, उसके सेवन से उष्णता उत्पन्न होती है। अत: वाजिगंध उष्ण

---

१. जगन्नाथ : रसगङ्गाधर—पृ० २२८-२२९

२. जगन्नाथ : तत्रैव— पृ० २२९

है, जैसा वाक्य प्रयुक्त है । ठीक इसी प्रकार **शृङ्गारो मधुरः** वाक्य का प्रयोग होता है ।

अथ शृङ्गारो मधुर इत्यादि व्यवहारः कथमिति चेत् ? एवं तर्हि द्रुत्यादि-चित्तवृत्ति-प्रयोजकत्वम्, प्रयोजकसंबन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु । व्यवहारस्तु वाजिगन्धोष्णेति व्यवहारवदक्षतः ।

प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम् । अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः । तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यदिरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तु मादृशाः ।[१]

पुनः वेदान्त दर्शन में आत्मा की उपाधि-कल्पना प्राप्त होती है । जहाँ गुण की स्थिति मान्य है । व्यावहारिक आत्मा को सगुण माना जाता है । वैशेषिक दर्शन में भी इच्छा, राग, द्वेष प्रभृति गुण आत्मनिष्ठ माने जाते हैं । अतः **पण्डितराज** जगन्नाथ को रस के उपाधि -रूप में गुण के सद्‌भाव को समाविष्ट करने में आपत्ति नहीं होगी ।

वस्तुतः गुण को रस-धर्म के रूप में निरूपणके लिए आनन्दवर्धन का सिद्धान्त निरूपण शास्त्र और व्यवहार दोनों दृष्टियों से संगत है । गुण को रसपरिपाक की प्रक्रिया में रसदशा की पूर्वस्थिति मानी जा सकती है, जहाँ कवि, श्रोता अथवा पाठक की चित्तवृत्ति द्रवित, दीप्त अथवा व्याप्त होकर काव्यानन्द की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत होती है ।

भाविते च रसे तस्य भोगः । योऽनुभावस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षणा एव द्रुति-विस्तार-विकासनामा रजस्तमोवैचित्र्याननुविद्धसत्त्वमयनिजचित्तस्वभाव-निवृत्ति-द्रुति-विश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसचिवः ।[२]

---

१. जगन्नाथ : रसगङ्गाधर– २३३-२३४

२. अभिनवगुप्त : लोचन टीका– पृ० ६८

गुण के संख्या निर्धारण को लेकर प्राचीन काल से मतभेद रहा है । भरत के अनुसार गुण दस हैं, जबकि भामह ने माधुर्य, ओज और प्रसाद नाम के तीन गुण ही माने । दण्डी और वामन की प्रवृत्ति भरत द्वारा निर्दिष्ट दश संख्या को मानने की रही, यद्यपि गुणों के स्वरूप निर्धारण में अन्तर है । वामन ने दस गुणों को स्वाकीरा, किन्तु उन्हें शब्दगत और अर्थगत कर उनकी संख्या बीस कर दी । परवर्ती काल में चौदह और गुणों की वृद्धि हुई । ये चौबीस गुण हैं: श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारत्व, उदात्तता, ओज, औचित्य, प्रेय, सुशब्दता, समाधि, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविकत्व, गति, रीति और प्रौढि ।[१] नवीन चौदह गुणों का औचित्य चिन्त्य ही है । गुणों की संख्या वृद्धि करने का मोह सर्वाधिक महाराज भोज में था । इन चौबीस गुणों को शब्दगत और अर्थगत मान कर उन्होंने गुणों की संख्या अड़तालीस कर दी । पुनः वाक्य, वैशिषक आदि प्रकल्पनाओं को लेकर भोज ने गुणों के कितने भेद और प्रभेद किये हैं, जिनका महत्त्व काव्यशास्त्रीय अध्ययन के लिए नगण्य है ।

गुण को रसाश्रित मानकर गुणत्रय की स्थापना ध्वनिवादी आचार्यों ने की है, उसके तात्विक आधार हैं । माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों का सम्बन्ध तीन प्रकार की चितवृत्तियों से माना गया है, माधुर्य का सम्बन्ध चित्त की द्रुति से, ओज का दीप्ति से तथा प्रसाद का सम्बन्ध विकास या व्याप्ति से स्वीकृत है ।

> आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।
> दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥
> व्याप्नोत्यन्यवत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥[२]

काव्य में गुण एवं चित्तवृत्ति की पौर्वापर्य दृष्टि से मम्मट की मान्यता सर्वाधिक युक्तियुक्त है । यही कारण है कि परवर्ती **विश्वनाथ, जगन्नाथ** जैसे आचार्यों ने गुणों के तीन भेद ही माने हैं ।

---

१. भोजः सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० ५०

२. मम्मट : काव्यप्रकाश, पृ० ८ ६८-६९-७०

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि **भरत, दण्डी** और **वामन** द्वारा निर्दिष्ट दस गुणों की सार्थकता काव्य में गौण वृत्ति से है, कारण इन आचार्यों ने गुण को काव्य में शब्दार्थों की शोभा का आवश्यक धर्म माना था। काव्य में शब्द तथा अर्थ की अपेक्षा व्यापार की प्रधानता तथा रसानुरूप चित्तवृत्तियों को लेकर रस-व्यञ्जकता को ध्यान में रखने गुणत्रय—**माधुर्य, ओज और प्रसाद**—रसाश्रयत्व में संगत जँचते हैं।

अत: शास्त्रीयता की रक्षा के लिए रसवादी एवं ध्वनिवादी आचार्यों ने **भामह** द्वारा निरूपित सरणि के अनुरूप तीन गुणों को मान्यता दी। उनकी दृष्टि में अवशिष्ट सात गुणों में से कुछ तो उपर्युक्त तीन गुणों में ही अन्तर्भूत हैं, कुछ को दोषाभाव मात्र गुण की कोटि से बाहर रखा जा सकता है और कुछ का पर्यवसान वैचित्र्य में किया जा सकता है। इस प्रसंग में मम्मट का अभिमत है:

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे स्थिता:।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश॥[१]

वामन द्वारा निर्दिष्ट मसृणत्व रूप शब्दश्लेष, आरोहावरोह का क्रमरूप शब्द समाधि गुण, विकटाक्षरबन्ध की उदारता शब्दगुण एवं शौथिल्यात्म रूप प्रसाद शब्दगुण मम्मट की दृष्टि से ओजगुण के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार शब्दगत अर्थव्यक्ति प्रसाद का रूपान्तर है। शब्दगत सौकुमार्य कष्टत्व दोष का परिहार है, अर्थगत कान्तिगुण दीप्तरसत्व का पर्याय होकर रसादिध्वनि अथवा रसवदादि अंलकार अथवा गुणीभूत व्यंग्य में अन्तर्भूत है, अर्थप्रौढ़िरूप ओज तथा क्रम कौटिल्यानुलवणत्वरूपश्लेष उक्तिवैचित्र्य हैं, गुण नहीं। सारांश, ममम्ट के मतानुसार माधुर्य, ओज एवं प्रसाद तीन गुणों को ही काव्य में स्वीकृति देना समीचीन है।

सैद्धान्तिक रूप से गुण रस के धर्म हैं। किन्तु गुण को उपचार से शब्दधर्म अथवा अर्थधर्म माना जा सकता है। जैसा कि **मम्मट** ने कहा है:

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश– ८-७२ पृ० २८०

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥[१]

भारतीय काव्यशास्त्र में गुण को शब्दार्थधर्म अथवा रसधर्म मानने वाले आचार्यों के पृथक्-पृथक् वाद प्रचलित हैं । इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है, कारण रसगत अथवा काव्यात्मनिष्ठ गुण प्रकारान्तर से काव्य शरीर का भी उपकार करते हैं । जिस प्रकार शरीर की स्वच्छता अथवा सुव्यवस्था परम्परया आत्मा के सौन्दर्य का हेतु बन जाती है, यही कारण है कि गुण की रसनिष्ठता को स्वीकार कर आचार्यों ने गुण व्यञ्जक शब्दार्थ को उपचार से शरीर-धर्म माना है ।

गौण रूप से गुण को शब्दार्थ का धर्म मान लेने से दस अथवा दशाधिक गुणों का व्यावहारिक महत्व है । किन्तु चित्तवृत्ति के पर्याय के रूप में गुण को ग्रहण करने से **माधुर्य, ओज** और **प्रसाद**-गुणत्रय की मान्यता अधिक संगत लगती है ।

काव्य और रीति

रीयते गम्यते ययेति रीतिः, जिसके द्वारा गमन हो, वह रीति या मार्ग है । काव्यशास्त्र में रीति का तात्पर्य काव्य-सरणि, काव्य-मार्ग, काव्यपथ आदि है । संस्कृत काव्य में शब्द और अर्थ की प्रधानता है और संस्कृत जैसी संश्लिष्ट भाषा में पद, शब्द और अर्थ के समन्वित रूप है । अतः पद-निर्माण और प्रदप्रयोग का अर्थ भी रीति से प्राप्त है । रीतिवादी **आचार्य वामन** ने इसीलिए **पदसंघटना रीतिः** कह कर रीति का लक्षण दिया है । इस प्रकार रीति शब्द अनेकार्थक है । और फलतः संस्कृत काव्यशास्त्र रीति लेकर विभिन्न मान्यताएँ प्राप्त हैं ।

रीति का प्रथम आधार भौगोलिक है, जहां भाषा-प्रयोग में देशगत विशिष्टाएं निरूपित हैं । यही इसका प्रथम आधार है । तदनुसार रीति देशगत भाषा शैली का पर्याय है । इस के प्रतिपादक भरत हैं । दूसरा आधार शब्दार्थ है जहाँ रीति का स्वरूप विश्लेषण शब्द और अर्थ की शुद्धता से है । **दण्डी, भामह** आदि पूर्वाचार्यों की मान्यता इसी रीति को लेकर है । गुण को गौण रूप से शब्दार्थ का धर्म माना

---

१. मम्मटः काव्यप्रकाश– ८-७१,पृ० २७८

गया है। तदनुसार गुण विशिष्ट अथवा गुणसम्पन्न पदरचना को रीति कहते हैं। रीतिवादी आचार्य वामन की यही मान्यता है। उनकी दृष्टि में रीति ही काव्य की आत्मा है। उत्तर काल के ध्वनिवादी आचार्यों ने रस के परिवेश में रीति को रख कर उसे अवयव संस्थान के रूप में देखा है। यहां रीति रसात्मक काव्य की उपकारिणी बन गई है। कुन्तक जैसे आचार्यों ने रीति में कवि के स्वभाव और व्यक्तित्व को देखा और उनके लिए रीति काव्यमार्ग है। फलतः रीति लेकर समय के प्रवाह में आचार्यों की व्यक्तिगत रुचि के चलते अनेक विरोधी धारणाओं की सृष्टि हुई है।

तात्त्विक दृष्टि से उपर्युक्त रीति-स्थापनाओं में दो परस्पर विरोधी मान्यताएं प्राप्त होती हैं। एक और **रीतिरात्मा काव्यस्य** वाक्य से रीतिवादी आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया है, दूसरी ओर रसवादी आचार्यों ने रीति को काव्यपुरुष का अंगसंस्थान मात्र बना दिया।

जैसा कि पहले कहा गया है कि रीति का संकेत सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में प्राप्त है। भरत ने रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया है, उनकी मान्यता थी कि विभिन्न देशों की वेश, भाषा एवं आचार विषयक वार्त्ता को व्यक्त करने वाला तत्त्व प्रवृत्ति है।

पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ताःख्यापयतीति प्रवृत्तिः ॥[१] उनके काल में देशगत भाषा-प्रवृत्ति के चार भेद थे—आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और औड्रमागधी।

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोड्रमागधी ॥[२]

आगे चल कर काव्यशास्त्रियों ने भाषा-प्रयोग-भेद के विभिन्न नाम दिए। भामह ने भौगोलिक वर्गीकरण का खण्डन किया और भाषागत गुणों को ध्यान में

---

१. भरत : नाट्यशास्त्र– १३-३२, वृत्ति

२. भरत : तत्रैव– १३-३२

रख कर इसे उन्होंने काव्य की संज्ञा दी । वामन, रुद्रट, राजशेखर, अग्निपुराणकार व्यास तथा विश्वनाथ के शब्द में यह रीति थी । **आनन्दवर्धन** ने इसे संघटना कहा । भोज के लिए इसका नामकरण पन्थ था । दण्डी और कुन्तक ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया । मम्मट और जगन्नाथ ने इसके लिए वृत्ति और रीति दो प्रयोग किये । आधुनिक आलोचना की शब्दावली में रीति के लिए **शैली** शब्द का प्रयोग अधिकांशतः होता है ।

वामन की **विशिष्टा पदरचना रीतिः** तथा आनन्दवर्धन की **व्यनक्ति सा. .....रसादीनि........संघटना** । पदरचना और संघटना दो शब्दों में अर्थसाम्य है । किन्तु आचार्यों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं । तात्त्विक दृष्टि से वामन की पदरचना काव्य के आत्मरूप विशिष्ट अर्थ की आकारिक निर्मिति है । काव्य-सौन्दर्य के सम्पादक शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्ययुक्त पदरचना अथवा काव्य की शब्दगत और अर्थगत शोभा या चमत्कार से युक्त विशिष्ट पदरचना को रीति मानकर आचार्य वामन ने वस्तुतः शब्द-शब्दार्थरूप काव्य शरीर के विशेष संघटना को ही **रीति** कहा है । इस प्रकार रीति को आत्मा स्वीकार कर काव्य शरीर को ही आत्मा को संज्ञा दी गई है । ध्वनिकार की ध्वनि मान्य है । ध्वनिरूप रस की व्यञ्जकता में अनुकूल पदसंघटना भाषिक दृष्टि से पदरचना से अभिन्न ही है । तथापि इन दोनों में तात्विक अन्तर है । वामन ने जिस रूप में शब्द को आत्मा मान कर रीति-लक्षण दिया है । वह असंगत है । यही कारण है कि रीति सम्प्रदाय वामन के साथ समाप्त हो गया और परवर्ती काल में वामन की मान्यता उपेक्षित रह गई ।

परवर्ती काल में वामन द्वारा निरूपित रीति के आत्मतत्व का सर्वाधिक सशक्त खण्डन ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा हुआ । **आनन्दवर्धन** का **संघटना** पद रसानुकूल रचना है । संघटना के प्रकृतिमूलक विश्लेषण के प्रसंग में ध्वनिकार का मत है कि संघटना माधुर्यादि गुणों का आश्रय ले कर रस की व्यंजना करती है । यह वक्ता और वाच्य के औचित्य से नियमित है । ध्वनिकार का कथन है:

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥

वहीं आगे चलकर उन्होंने कहा—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥[१]

इस प्रकार आनन्दवर्धन की दृष्टि में रीति रचना के रूप में रसाभिव्यक्ति का साधन है ।

आनन्दवर्धन के पश्चात् राजशेखर ने तथा उनके अनुकरण में भोज ने रीति को वचनविन्यासक्रम कहा । साथ ही, भोज का अभिमत वामन की सरणि में है कि गुण युक्त रचना ही रीति है । गुण के अभाव में रीति-भंग होता है । कुन्तक ने रीति के स्थान में मार्ग शब्द का प्रयोग कर उसे कवि प्रस्थान कहा । उनकी दृष्टि में यह ऐसी रचना-शैली है जिस पर कवि प्रस्थान करता है ।

मानव-स्वभाव पर आधृत कर कुन्तक ने मार्गत्रय-सुकुमार, मध्यम और विचित्र की स्थापना की है । कुन्तक के वाक्य हैं :

सन्ति तत्र त्रयो मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ।[२]

तथा

एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम् ।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥[३]

यहां यह भी ध्यातव्य है कि कुन्तक, भोज और राजशेखर में से किसी ने रीति और रस के मध्य किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया ।

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक— ३-५८-६२

२. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित— १-२४

३. कुन्तक : तत्रैव— १-५७

किन्तु ध्वनिवादी की प्रतिष्ठा के बाद आनन्दवर्धन के अनुयायी ध्वनिवादी मम्मट और रसवादी विश्वनाथ ने रीति को रस से संबद्ध किया। मम्मट ने अपनी वृत्ति को रस विषयक व्यापार ही माना।

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। [१]

इसी प्रकार **विश्वनाथ** का अभिमत है कि रीति पद संघटना के रूप में रस, भाव आदि की उपकारिका है:

पदसंघटना रीतिरङ्गसंघटना विशेषत्वात् संघटनायाश्च। अवयवसंस्थानरूपत्वात्। आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात्॥ [२]

आनन्दवर्धन ने **रीतिरात्मा काव्यस्य** रीतिवादी वामन का उपहास किया था। एतदर्थ विश्वनाथ ने रीति को काव्यात्मभाव से हटा अंग संस्थान में ही सीमित कर दिया। विश्वनाथ का मत रीति सिद्धान्त लेकर सर्वाधिक उपादेय और ज्ञातव्य प्रमाणित हुआ है।

यह स्वीकार्य है कि **रीति काव्य का बाह्यपरक साधन** है। काव्य का अनिवार्य आन्तरिक साधन अथवा आत्मा नहीं। साथ ही, इसे भी स्वीकार करना होगा कि काव्य में निहित भाव-सौन्दर्य को अनुप्राप्त और जीवन्त करने में वर्ण-नियोजन, शब्दयोजन, अंलकार-विधान प्रतीकीकरण आदि भाषिक प्रस्तुतियों का योगदान है। यदि रसानुरूप भाषा शैली न हो तो रसात्मक रूप संभव भी नहीं। स्पष्टतः भाव और भाषा, तथ्य और रूप ,वस्तु और अभिव्यक्ति शैली में अन्योन्याश्रित संबन्ध होता है। इस विषय को लेकर विवाद का कोई अवकाश नहीं है। ध्यांतव्य है कि काव्यभाषा की विशिष्टता के लिए काव्य में भाव-वैचित्र्य, विचार-वैभव, अनुभूति-गाम्भीर्य, अभिव्यक्ति-शक्ति आदि सब तत्त्व संश्लिष्ट होते हैं। तदनुसार काव्यभाषा में घनत्व और उक्ति में स्फूर्ति उत्पादन आवश्यक है।

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश– ८-७०

२. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, प्रथम परिच्छेद– पृ० २६

अन्त में उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निष्कर्ष रूप से एक तथ्यावधारण को उपस्थापित कर सकते हैं। रीति काव्य में उत्कर्ष विधान के लिए है। यद्यपि रीति के महत्व को लेकर काव्यशास्त्रियों के मध्य आकाश-पाताल का मतवैविध्य है, तथापि रीति लक्षण लेकर मन्तव्यों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। रीति, जैसा कि शुरू-शुरू भरत ने कहा था, भाषिक प्रवृत्ति है, कवि का कलात्मक प्रयास है। वामन की विशिष्ट पदरचना तथा रसोपकारक के रूप में ध्वनिकार और परवर्ती काव्यचिन्तकों की वृत्ति अथवा संघटना प्रायः स्वरूपतः एक हैं। रीति शब्द और अर्थ पर आश्रित है, यह काव्य-विन्यास से रचना में चमत्कार उत्पन्न करती है, जहाँ माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण से युक्त रीति पाठक अथवा श्रोता के चित्त को द्रवित, दीप्त अथवा परिव्याप्त करती हुई उसे रसास्वादन अथवा भाव-ग्रहण में साधन रूप से सहायक होती है।

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि रीति के विधायक माधुर्य, ओज और प्रसाद-गुणत्रय-लेकर वर्ण्य विषय के अनुकूल रसगत गुण, वर्णगत गुण और अभिव्यक्ति मूलक विशिष्ट घटकों की सम्यक् स्थिति अथवा सममिति में काव्य-सौन्दर्य रूपायित है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस-परिवेश में दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। कहा गया है कि शृंगार करुण और हास्य को रजोगुणी प्रकृति से, रौद्र, वीर और भयानक को तमोगुणी प्रकृति से युक्त किया जा सकता है। बीभत्स को द्वितीय कोटि में रखना अधिक संगत जँचता है। तदनुरूप माधुर्य, ओज और प्रसाद काव्य गुणत्रय की अवतारणा शब्द-विधान में उपयुक्त है। उदाहरणार्थ, शृंगार रस में चित्तवृत्ति के लिए रसगत गुण माधुर्य है, किन्तु शृंगार-वर्णन में ओजस्व भाव की उपस्थिति के लिए ओजोगुण का प्रयोग किया जाये, अथवा विषमित भावों में प्रसाद का प्रयोग किया जाय, तो भी किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होगी। साथ ही देश, व्यक्ति यथा काल की दृष्टि से अथवा उनकी विभिन्नता से रीति की अनन्तता की कल्पना सहज की जा सकती है। तथापि मनोविद्या के मूल-सिद्धान्तों के अनुरूप वर्गत्रय की प्रकल्पना संगत है। मधुर और ओजस्व स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोटि के विविध स्वभाव देखे जाते हैं। जिन्हें प्रसाद अथवा प्रसरणशील कह सकते

हैं। उनका समावेश एक ही कोटि में किया जा सकता है। साथ ही, आधुनिक काव्य-रचना-पद्धति में विविध वाक्य-योजनाएँ देखी जाती हैं, जिनमें अभिव्यक्ति-गत वैविध्य प्राप्त है। ऐसी स्थिति में प्रसाद के अर्थविस्तार से उन विभिन्न भावों और स्वभावों के लिए प्रसादगुण की व्याप्ति ही अनुकूल है।

निष्कर्ष, जिस प्रकार तीन से अधिक गुणों का संख्या-निर्धारण आवश्यक नहीं, उसी प्रकार रीतित्रय की स्थापना ही काम्य है।

भारतीय काव्यशास्त्र में रीति के अर्थों में शैली शब्द का प्रयोग अनुपलब्ध है। रीति के स्थान पर **शैली** का प्रयोग आधुनिक काल में अधिक लोकप्रिय है। वर्णसाम्य से पाश्चात्य **स्टाइल** का पर्यायक बना कर आधुनिकता का बोध शैली से होता है।

शीलमेव स्वार्थे ष्यञ् ङीपि यलोपः से शैली शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। रीति से मिलते-जुलते अर्थ में शैली का प्रयोग **मनुस्मृति** के टीकाकार **कुल्लुक भट्ट** ने किया है : **प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत् स्वाभिप्रायमपि परोपदेशमिव विवृणोति**।[१] विद्वानों की ऐसी शैली पाई जाती है, जहाँ वे अपने वक्तव्य को भी परकथन के रूप में रखते हैं। **स्टाइल इज द मैन** प्रसिद्ध अंग्रेजी वाक्य—**स्टाइल** स्वयं लेखक हैं—से **स्टाइल** में जो भाव व्यक्त हैं, उससे शैली में अर्थापकर्ष है। शील (स्वभाव)से निष्पन्न शैली वैयक्तिक भाव की द्योतक है, शैली में व्यक्तित्व की ही प्राधनता रहती है। दूसरी ओर वक्तव्य में निहित अर्थ के अनुरूप भाषित शिल्प विधान रीति है। जिसमें कवि का व्यक्तित्व भी आनुषंगिक भाव से आ जाता है। इस प्रकार काव्यशास्त्रीय विवेचन में रीति शैली से अधिक व्यापक अर्थ को द्योतित करती है। रीति ही अधिक उपयुक्त और उपादेय है। जैसा कि **वक्रोक्तिकार** कुन्तक ने ठीक ही कहा है:

मार्गाणां त्रितयं तदेतदसकृप्राप्तव्यपर्युत्सकैः
क्षुण्णं कैरपि यत्र कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं गताः।

१. कुल्लुक भट्ट, मनुस्मृति टीका–१-४

सर्वे स्वैरविहारहारिकवयो यास्यन्ति येनाधुना
तस्मिन् कोऽपि स साधु सुन्दरपदन्यासक्रमः कथ्यते ॥[१]

काव्य और दोष

प्राचीन काल से ही भारतीय शाब्दिकों ने शब्दों की शुद्धता पर बल दिया है, कारण उनकी दृष्टि में शब्द ही जगत् का मूल कारण है। शब्द है, उसका अर्थ भी उससे अभिन्न है। इसीलिए आचार्य भर्तृहरि ने कहा :

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥[२]

काव्य कवि की सृष्टि है, शब्द और अर्थ दो उपादानों से ही काव्य-निर्माण है, इन दोनों के सत्प्रयोग में गुण है और इन दोनों के वैगुण्य में दोष उत्पन्न होता है। जिस प्रकार कीटदष्ट मणि दूषित हो जाता है उसी प्रकार सदोष काव्य भी सौन्दर्यहीन हो जाता है। काव्याचार्य-दण्डी का अभिमंत है कि सम्यक् प्रयुक्त, अर्थात् दोषशून्य एवं गुणालंकार युक्त वाणी कामधेनु की तरह होती है। शब्द की सुप्रयुक्तता कामधेनु है, उसका अनुपयुक्त प्रयोग मूर्खत्व का प्रतीक है।

गौर्गौःकामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः नैव शंसति ॥

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥[३]

सदोषा वाणी कवि की मूर्खता को प्रकट करती है। एतदर्थ काव्य में लेशमात्र दोष भी सहन नहीं है। श्वित्र या कुष्ठ का एक छोटा सा दाग भी सुन्दर शरीर को विरूप बना देता है।

---

१. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित– १-५८

२. भर्तृहरि : वाक्यपदीय– १-१

३. दण्डी : काव्यादर्श– १-६-७

इसी प्रकार दण्डी के पूर्व भामह ने काव्य-दोष की निन्दा की थी ।

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमबद्धवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ।।

नाऽकवित्वमधर्माय न व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनःसाक्षान्मृत्युमाहुर्मनीषिणः ।।[१]

सदोष काव्य दुःसुत या कुपुत्र की तरह निन्दनीय होता है । कविता की रचना न करना कोई अधर्म नहीं है, न वह अहितकर अथवा दण्डदायक है, किन्तु दोषपूर्ण रचना साक्षात् मृत्यु ही है ।

दुष्यते अनेनेति दोषः, दुष् भावे करणे वा घञ् । व्युत्पत्ति के आधार पर जिससे कोई वस्तु अनिष्ट अथवा दुष्ट हो जाय, उसे दोष कहते हैं । दोष ही वैगुण्य है, अथवा दोष से वैगुण्य उत्पन्न होता है, निर्दोष काव्य ही प्रिय और उपादेय होता है । दोष परिहार की प्रवृत्तिं मानव में सहज रही है ।

अतः हमारे वैदिक ऋषि की प्रार्थना रही है :

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ।।

हे परम परमेश्वर सवितृदेव, जो सब दुरित अथवा दोष युक्त हैं, उन्हें दूर ले जाओ । जो भद्र है, शोभन है या कल्याणकारी है, उसे हमारे लिए ले आओ ।

सामान्यतः सभी चिन्तकों ने दोष को हेय और त्याज्य माना है । किन्तु यह ध्यातव्य है कि दोष के सम्बन्ध में रीति तथा गुण की तरह ही उसके स्वरूप और प्रयोजनीयता लेकर मतभेद हैं । साथ ही, समय-समय पर काव्यदोष की धारणा में परिवर्तन परिलक्षित हैं । दोष के लक्षण और स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में ध्वनिपूर्ववर्ती और ध्वनि परवर्ती आचार्यों के मध्य एक सुस्पष्ट विभाजन रेखा खींची जा सकती है । प्रथम वर्ग के मतानुसार दोष का सम्बन्ध गुण के साथ स्थापित है, तो

१. भामह : काव्यालङ्कार– १-११,१२

दूसरे वर्ग के आचार्यों (एक मात्र अपवाद जयदेव हैं) के मतानुसार दोष का सम्बन्ध रस से है। साथ ही, दोष की निन्दा और उसकी हेयता को लेकर कुछ बेहद अनुदार हैं, तो कुछ उदारपन्थी हैं।

आचार्य दण्डी की अनुदारता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके विपरीत हमारे प्राचीनतम आचार्य का दृष्टिकोण उदार रहा है। राजशेखर द्वारा उल्लिखित प्रथम दोषाधिकारी धिषण की मान्यता आज अनुपलब्ध है, सदोष नाटक (काव्य) के प्रसंग में भरत का मन्तव्य है कि दोष-विचार को लेकर किसी आलोचक को अधिक संवेदनशील नहीं होना चाहिए। क्योंकि संसार का कोई भी पदार्थ आत्यन्तिक रूप से गुणहीन अथवा दोषहीन नहीं होता है।

> न च किञ्चिद् गुणहीनं दोषैः परिमार्जितं न वा किञ्चित्।
> तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतो ग्राह्याः ॥[१]

इसी प्रकार मम्मट द्वारा निर्दिष्ट काव्य लक्षण के खण्डन में विश्वनाथ ने ठीक ही कहा है। यदि निर्दोषता काव्य का आवश्यक तत्त्व मान लिया जाय, तो वैसा काव्य विरल ही होगा अथवा वह निर्विषय हो जायेगा। सर्वथा निर्दोष होना असंभव है। एवं (निर्दोषं) काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्। सर्वथा निर्दोष-स्यैकान्तमसम्भवात् ॥[२]

दोष लक्षण लेकर भी आचार्यों में एकमत नहीं है। भरत, भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने दोष की भावात्मक स्थिति मानी है। दोष के विपर्यय रूप में उन्होंने गुण को रखा है।

> एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः।
> गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः ॥[३]

---

१. भरत : नाट्यशास्त्र– १७-४७

२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद– पृ० १४

३. भरत : नाट्यशास्त्र, १७-४९

दोष का लक्षण प्राप्त नहीं है। किन्तु उपर्युक्त कथन में गुण को दोष का वैपरीत्य कहा गया है। भरत की उक्ति के तात्पर्य के प्रसंग में व्याख्याकार अभिनव-गुप्त ने कहा—

अथ गुणेषु प्रतिजानीते—एषां विपर्ययाद् गुणाःभवन्ति। एतद्दोषविघात एव गुणो भवतीत्यर्थः। किमविशेषेण नेत्याह माधुर्यौदार्यलक्षमङ्क्षो येषाम्।[१]

अभिनवगुप्त ने सभी गुणों को दोष-विपर्यात्मक नहीं माना। उनकी दृष्टि में केवल माधुर्य और औदार्य में दोषाभाव है। तदनुसार काव्य दोषाभाव में अथवा दोषरहित होकर गुणयुक्त होता है। दण्डी ने स्पष्टतः निर्णय दिया कि गुण काव्य की सम्पत्ति है अर्थात् शोभाविधायक है, तो दोष काव्य की विपत्ति अर्थात् असौन्दर्यविधायक है।

दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये यथा॥[२]

किन्तु अलंकार शास्त्र में दोष की सुप्राचीन आलोचना होते हुए भी सर्वप्रथम लक्षणकार आचार्य वामन हैं। उनकी मान्यता है: **गुणविपर्ययात्मनो दोषाः।**[३] दोष गुण का विपरीत स्वभाव है। विपर्यय शब्द का एक अर्थ अभाव है और दूसरा अर्थ वैपरीत्य। किसी व्यक्ति में दौर्बल्य का अभाव उसके शौर्य का परिचायक नहीं है। सौन्दर्य का अभाव कुछ और होता है और कुरूपता कुछ और भाव है। अतः हम सहज कह सकते हैं कि शौर्य और दौर्बल्य, उसी तरह सौन्दर्य और असौन्दर्य परस्पर अभावात्मक नहीं हैं। वे एक दूसरे के विपरीत भाव से स्थित हैं और उनकी सत्ता स्वतन्त्र है। किन्तु कुछ ऐसे भी दोष हैं जो गुण के विपरीत न होकर अभावात्मक रूप में गृहीत हैं। यथा— कायरता साहस के अभाव का दूसरा नाम है। अतः वामन-सम्मत दोष को मुख्य वृत्ति से गुण के विपरीत मानना संगत है और गौण

---

१. अभिनवगुप्त : अभिनवभारती १६-पृ० ३३३

२. दण्डी : काव्यादर्श, ३-१२४

३. वामन : काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, २-१-१

वृत्ति से गुण का अभाव। वामन की दृष्टि में सौन्दर्य वस्तुगत है, अत: दोष भी वस्तुगत है, दोष विकृति है जिससे आन्तरिक चितवृत्ति में उद्वेग उत्पन्न होता है।

परवर्ती काल में **आनन्दवर्धन** ने ध्वनिवाद की प्रतिष्ठा की और उनकी ध्वनि-मान्यता के चलते दोषधारणा में रूपान्तर परिवर्तन आया। इत: पूर्व शब्द अथवा अर्थ की दुष्टता उक्तिवैचित्र्य के परिवेश में निरूपित थी। दोष रूपात्मक था। किन्तु ध्वनिकार के मत के अनुसार काव्यात्मक सौन्दर्य रूपगत नहीं है, वह आत्मगत है। इससे दोष की स्थिति में परिवर्तन हुआ। रस के अनाकर्षण में अचारुत्व अथवा विघटन को दोष कहा गया। रसप्रतीति में जो विघ्न उत्पन्न करे, अथवा जिसकी उपस्थिति से रस प्रतीति सर्वाङ्ग सुन्दर न हो, उसे ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने दोष रस के विरोधी के रूप में स्वीकारा। स्पष्टत: वहाँ **दोष** शब्द का प्रयोग नहीं है। किन्तु ध्वनिकार के कथन को परवर्ती रस प्रस्थानी आचार्यों ने रसदोष के अर्थ में लिया है। इस मतवाद के प्रबल समर्थक **मम्मट** थे। उन्होंने रस और मुख्यार्थ या वाच्य को केन्द्र में रखकर दोष का स्वरूप-निर्धारण किया। उनकी मान्यता थी :

मुख्यार्थहतिर्दोष: रसश्च मुख्यस्तदाश्रयात् वाच्य:।
उभयोपयोगिन: स्यु: शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स:॥[1]

दोष **मुख्यार्थहति** है। हति हन् धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। क्तिन् भाव और करण दोनों में प्रयुक्त है। **हननमिति हति: अथवा हन्यतेऽनेनेति हति:**। इस प्रकार हति के दो अर्थ होते हैं विनाश तथा विनाशक। शब्द का मूलार्थ प्रासंगिक नहीं है। जितने प्रकार के दोष परगणित हैं, उनसे रस का विनाश नहीं होता है। इसलिए काव्य प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर ने इसका गौणार्थ **अपकर्ष** अथवा **अपकर्षक** स्वीकार किया। **उद्देश्यप्रतीतिविघातलक्षणोऽपकर्षो हति-शब्दार्थ:**।[2] हति शब्द से उद्देश्य विषयीभूत प्रतीति के विघातरूप अपकर्ष का ग्रहण

---

१. मम्मट: काव्यप्रकाश– ७-७१

२. गोविन्दठक्कुर, काव्यप्रदीप– पृ० १६९

करना चाहिए । तदनुसार **मुख्यार्थहतिर्देष:** वाक्य का अर्थ है मुख्यार्थ का अपकर्षक दोष है । मुख्यार्थ में मुख्य रस है, उसके द्वारा आश्रय लिए जाने से वाच्यार्थ भी मुख्य है । शब्दादि उन दोनों के उपयोगी होते हैं । अत: मुख्य में शब्दादि का ग्रहण भी अपेक्षित है ।

विभावादि रूप अर्थ यदि प्रकृत रस के अनुकूल नहीं होता है, तो रस-प्रतीति में विघ्न उत्पन्न होता है । विभावादि के औचित्यपूर्ण नियोजन में ही रस की प्रतिष्ठा है । पक्षान्तर से शब्द और अर्थ दोनों रस-प्रतीति में आलम्बन हैं । शब्द-साहचर्य से विभावादि रूप अर्थ व्यञ्जित होकर रस-चर्वण में पर्य्यवसित होता है । परिणामत: उत्कृष्ट रस-सृष्टि में जिस प्रकार उचित विभावानुभावादि उपकरणों का प्रयोजन है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ का औचित्य भी ऐकान्तिक प्रयोजन रखता है । इस प्रकार मम्मट के उपर्युक्त सिद्धान्त में गुण और दोष का सम्बन्ध परस्पर विपर्यय पर आधृत है । अत: दोनों के स्वरूप-निर्धारण में मूलाधार रस ही है । रस शब्दों की अपेक्षा करता है और शब्दादि -वर्ण,पद, पदांश, वाक्य और वाक्यांश-रस और अर्थ दोनों के उपयोगी हैं । अत: दोष मात्र रसगत नहीं होता, अपितु वह अर्थ, पद, पदांश, वाक्य और वाक्यांश में अन्तर्भूत है । मम्मट ने पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस-पांच वर्गों में दोषों को विभाजित किया है । दोषों के वर्गीकरण के एक सुसंबद्ध-क्रम की व्यवस्थापना का श्रेय मम्मट को ही है । यही व्यवस्था कुछ संशोधनों तथा परिवर्धनों के साथ परवर्ती काव्यालोचन में मान्य रही है ।

उत्तर काल में आलंकारिको ने दोष को मुख्यत: रस के अपकर्षक के रूप में ग्रहण किया है । व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ध्वनि के विरोधी थे, किन्तु उन्होनें रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया । उनका दोषनिरूपण भी रसाश्रित ही है । **एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्**[१] दोष का सामान्य लक्षण विवक्षित रसादिं की प्रतीति में विघ्न उपस्थित करना है । **काव्यानुशासन में आचार्य हेमचन्द्र** ने एक ही कारिका में दोष और गुण का लक्षण

१. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक– अध्याय-२ पृ० १५२

दिया। जिसमें दोष को रस का अपकर्षक कहा गया है, **रसस्योत्कर्षापकर्ष हेतू गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः।**[1] इसी तरह भोज, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर प्रभृति आचार्यों का मन्तव्य है, जहाँ मम्मट के मत पुनरावृत्ति है। विश्वनाथ का प्रसिद्ध सूत्रवाक्य है, **दोषास्तस्यापकर्षकाः** जिसकी व्याख्या में उन्होंने कहाः **श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादयः काव्यस्यापकर्षका उच्यन्ते॥**[2]

काव्य में श्रुतदुष्टत्व शब्ददोष होता है, अपुष्टार्थत्व अर्थ दोष, । ये दोनों मनुष्य के काणत्व और खञ्जित्व दोषों की तरह शब्दार्थरूपों से देहद्वार से स्थित होते हैं। व्यभिचारिभावादि का स्वशब्दवाच्यत्व दोष उसके मूर्खत्व की तरह है। इस प्रकार शब्ददोष, अर्थदोष, और रसदोष। तीनों सौन्दर्यरूप काव्य में अपकर्षक होते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में कुछ संशोधनों के साथ दोष का यही स्वरूप स्वीकृत है। दोषों की स्थितियाँ चार प्रकार की होती है—

१. कहीं दोष सहृदय का उद्वेग-जनक होता है। जिससे रस का विघात हो जाता है। इससे वक्तव्य का मूल्य समाप्त हो जाता है।

२. कहीं दोष विषयानुकूल होकर गुण-स्वरूप बन जाता है।

३. कहीं दोष का परिहार हो जाता है, तब दोष दोष नहीं रह जाता है।

४. कहीं दोष तो न दोष है और न वह गुण-स्वरूप होता है।

प्रथम, तृतीय और चतुर्थ, तीन स्थितियों, विशेषतः प्रथम से, कवि को बचने का प्रयास करना चाहिए। प्रथम स्थिति निस्सन्देह निन्द्य है। तृतीय और चतुर्थ, स्थितियाँ उपेक्षणीय हैं, वस्तुतः भरत की उक्ति **दोषा नात्यर्थतो ग्राह्याः**। समीचीन है, द्वितीय स्थिति में दोष स्थान, पात्र और काल को लेकर गुण-स्वरूप ही हो जाता है।

---

१. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन— अध्याय-१, पृ० १९

२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण— १-४

एतदर्थ काव्यशास्त्रियों ने दोष को नित्य न मानकर अनित्य स्वीकार किया है । जिसे शास्त्रीय दृष्टि से दोष कहा जाता है, वह वर्णनीय विषय का उपयोगी बना कर सौन्दर्याधायक बन जाता है । इस प्रसंग में आनन्दवर्धन ने सुस्पष्ट अभिमत रखा है ।

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥[१]

औचित्य ही रस का प्राण है । अनौचित्य में ही दोष का दोषत्व है । जहां-कहीं दोष से अनौचित्य की सृष्टि नहीं होती है, वैसा दोष सर्वथा त्याज्य नहीं है । यहीं दोष की अनित्यता सिद्ध होती है ।

दोष को काव्य-सौन्दर्य के निर्माण में सर्वथा अपकर्षक कहना संगत नहीं है । उसकी नित्यता और अनित्यता के चलते दोष के भावात्मक और अभावात्मक दोनों पक्ष होते हैं । फलतः काव्य दोषों का ज्ञान काव्य में व्यावहारिक महत्व रखता है ।

दोषों का संख्या-निर्धारण दोष की प्रकृति के अनुरूप निश्चित नहीं है । भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार दोषों की संख्या दस है तो मम्मट के काव्यप्रकाश में चौहत्तर दोषों का उल्लेख है । मम्मट के पूर्व भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट प्रभृति आचार्यों ने रस-दोषों की चर्चा नहीं की है । भामह और दण्डी दस दोषों के विवेचन में भरत से प्रभावित हैं । वामन ने गुण के आधार पर शब्दगत और अर्थगत भेद कर संख्या बीस कर दी है । भरत द्वारा निर्दिष्ट दस दोष हैं :

गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।[२]
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥

---

१. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३-८८, पृ० २९४

२. भरत, नाट्यशास्त्र– १७-८७

ये दस दोष हैं : गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत।

भरत ने शब्द और अर्थ को अविभाज्य मानकर शब्ददोष और अर्थदोष को स्वतन्त्र रूप से विवेचित नहीं किया। इन दोषों में अधिकांश अर्थदोष ही हैं। शब्दच्युत मूलतः शब्ददोष है। किन्तु यहाँ अर्थगतता भी स्पष्ट है, क्योंकि अपशब्दों के प्रयोग से विवक्षित अर्थ के बोध में बाधा उत्पन्न होती है। विषम दोष छन्द से संबद्ध है। विसन्धि की प्राप्ति संस्कृत भाषा में अधिकांशतः प्राप्ति है। वहाँ भी यह दोष अनित्य ही है। नाट्यशास्त्र में निरूपित दोष विधान और दोष-संख्या निर्धारण का महत्व ऐतिहासिक है, क्योंकि परवर्ती आचार्यों ने इसे अपने विवेचन का आधार बनाया है।

वामन ने भरत के अनुसरण पर काव्य-दोषों क शब्ददोष और अर्थदोष में विभक्त कर दोषों की संख्या बीस कर दी है। पददोष, पदार्थदोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थ सभी दोषों का आधार मूलतः शब्द और अर्थ हैं।

उत्तर काल में काव्यात्मक रूप में रसध्वनि की प्रतिष्ठा होने पर रसापकर्ष के रूप में दोषों की संख्या में वृद्धि हुई। दोषों के शृंखलाबद्ध वर्गीकरण का श्रेय आचार्य मम्मट को है। पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय चिन्तन में दस दोष, स्वीकृत थे, उन्हें मम्मट ने स्वीकारा। साथ ही, समकालीन प्रयोगों में प्रचलित दोषों का संचयन और संकलनकर उन्होंने सर्वाधिक दोष-संख्या कर दी। जिस प्रकार दोष-लक्षण के लिए उनका वाक्य प्रामाणिक हुआ, उसी प्रकार दोष भेद के आकार-प्रकार तथा संख्या निर्धारण में उनकी विवेचना प्रमाण-स्वरूप है।

परवर्ती आचार्यों ने संशोधन और संक्षेपण के साथ मम्मट द्वारा दिये गये दोष-भेदों और संख्यावधारण को स्वीकारा है।

उत्तरकाल में दोषों की नित्यता और अनित्यता को ध्यान में रखकर आचार्यों ने पूर्ववर्ती आचार्यों के शब्ददोष और अर्थदोष के साथ तृतीय वर्ग रस-दोष माना। किन्तु मम्मट की मौलिकता-शब्ददोषों को पदगत और वाक्यगत मानने में है।

शाब्दिक की तरह उन्होंने शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण किया। **शब्द्यते शाब्दबोधविषयीक्रियतेऽनेनेति शब्दः**— शाब्दबोध का विषय शब्द ही होता है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द पद से प्रतिपादन विशिष्ट पद और वाक्य का ग्रहण होता है। शाब्दबोध का विषय शब्द ही होता है। एतदर्थ रस-प्रतीति अथवा अर्थप्रतीति के उपाय मूल शब्द को जो दूषित करता है, वही दोष है। स्पष्टतः शब्द तीन प्रकार के होते हैं: पद, पदांश तथा वाक्य। पदांश पद का संलग्नक होता है। अतः पद और पदांश के एककोटिनिर्धारण में भाषिक युक्ति है। इसी दृष्टि से पदगत और पदांशगत दोषों को मम्मट ने पददोष वर्ग में ही रखा है। फलतः उन्होंने काव्यदोषों को चार वर्गों में विभाजित किया है— पददोष, वाक्यदोष, अर्थदोष और रसदोष।

पदगत दोष—मम्मट के अनुसार सोलह पददोष हैं : श्रुतिकटु-च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, त्रिविध अश्लील, संदिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश और विरुद्धमतिकृत। इन सोलह में से अन्तिम तीन की प्राप्ति सामासिक पदों में ही होती है। श्रुति कटु से आरम्भ कर नेयार्थ तक के तेरह दोष पदगत हैं। इनमें कुछ पदांशगत है। किन्तु उपर्युक्त सोलह दोषों में पद की ही प्रधानता है। इसीलिए **प्राधान्येन व्यपदेशाःभवन्ति** न्याय से इनको पददोषों की कोटि में समान रूप से रखा गया है।

दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्॥
संदिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम्।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव॥[१]

वाक्यगत दोष बाईस हैं। ये हैं—प्रतिकूलवर्ण, उपहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग, विसन्धि, हतवृत्त, न्यूनपद, अधिकपद, कथितपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनरात्त, अर्धा-

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश– उल्लास-७ सूत्र-७२-७३

न्तरैकवाच, अभवन्मत सम्बन्ध, अयोग, अनभिहित वाच्य, अपदस्थपद, अपदस्थ-समास, संकीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धिहत, भग्नप्रक्रम, अक्रम और अमतपरार्थ।

ये ऐसे वाक्य दोष हैं जिनका समावेश पद-दोषों में नहीं हो सकता है। इन दोषों की उत्पत्ति सम्पूर्ण वाक्य को लेकर होती है। इन दोषों की प्राप्ति रसात्मक रचनाओं में ही होती है, जब कि पदमत पदों में ही सीमित हैं।

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम्।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्॥

अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम्।
अपदस्थपदसमासं संकीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम्॥
भग्नप्रक्रममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा॥[१]

अर्थबोध को लेकर जो दोष काव्य में उत्पन्न होते हैं उनकी संख्या तेईस है। आधुनिक काव्य की प्रकृति और प्रसृति की विविधता को लेकर संख्या में वृद्धि की संभावना है। विसंगति, सम्प्रेषणाभाव आदि अनेक विघटन अर्थ लेकर देखे जाते हैं। आचार्य मम्मट द्वारा निरूपित तेईस अर्थ दोष हैं : अपुष्ट, कष्ट, व्याहत पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्धि विरुद्ध, विद्या विरुद्ध अनवीकृत सनियम परिवृत्ति, अनियम परिवृत्ति, विशेष परिवृत्ति, अविशेष परिवृत्ति, साकांक्ष अपदयुक्त, सहचरभिन्न, प्रकाशित विरुद्ध, विध्ययुक्त, अनुवादायुक्त, त्यक्त पुनः स्वीकृत और अश्लील।

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः।
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धि-विद्या विरुद्धश्च॥
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः॥

साकांक्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः॥[२]

---

१. मम्मट : तत्रैव, उल्लास- ७५ सूत्र ७२-७३

२. मम्मट : तत्रैव– उल्लास ७-सूत्र ७६

उपर्युक्त अर्थदोषों में अनेक अनित्य दोष हैं । कथ्य की विशिष्टता लेकर दोषरूपता का परिहार हो जाता है । लोक विरुद्ध और अनवीकृत एक दूसरे के विपरीत होकर गुणरूप ही हैं ।

ध्वनिवादी आचार्यों ने वस्तुध्वनि अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि में रसध्वनि को प्रधान और काव्यात्मक रूप में माना है । ध्वनिवादी मम्मट ने रसोपघात करने वाले दोषों का विवेचन व्यावहारिक और प्रायोगिक आग्रहों को लेकर किया है । उनके अनुसार ऐसे दोषों की संख्या तेरह है । ये हैं — व्यभिचारीभाव का स्वशब्द वाच्यत्व, रस का स्वशब्द वाच्यत्व, स्थायी भाव का स्वशब्द वाच्यत्व, विभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, अनुभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति, प्रतिकूल विभावादि का परिग्रह, पुनः पुन दीप्ति, अकाण्ड प्रथन, अकाण्ड-छेद, अंग-विस्तृति, अंगी का अनुसन्धान न होना, प्रकृति-विपर्यय और अप्रधान का (विस्तार से) वर्णन ।

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ।।

प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अंगस्याप्यतिविस्तृतिः ।।

अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ।।[१]

रस व्यङ्ग्य है । रसोपकरणों की स्वशब्दवाच्यता रस का स्वशब्दोपादान है ।

यह सही है कि सभी ने दोष को अवाञ्छनीय तत्त्व के रूप में स्वीकृति दी है । तब एक प्रश्न सहज उठता है कि दोष नित्य है या अनित्य ? मम्मट ने काव्य-लक्षण तद्दोषौ शब्दौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि में दोष को आद्यप्रयोजक रूप

---

१ मम्मट : तत्रैव, उल्लास ७-सूत्र ८२

से ग्रहण कर दोषरहित काव्य को ही काव्य की संज्ञा दी है। तब प्रश्न है, क्या सदोष काव्य की रचना काव्यरचना नहीं ? अथवा यदि कवि की रचना में एकाधिक दोष आ भी जाय, तो क्या उसे काव्य की संज्ञा से च्युत किया जाये ? भाषा मानवीय है, वह सर्वथा अपूर्ण है। उसमें नित्य परिवर्त्तन होते रहते हैं। जिस प्रकार नव प्रयोग की उपेक्षा व्याकरण-शास्त्र में असंभव है, उसी प्रकार शब्द-रचना-प्रयोग सापेक्ष होती है। अर्थ भी नित्य परिवर्त्तनीय लोक-रुचि से परिवर्त्तित होता रहता है। दोष रहित काव्य लोक में आदरणीय अवश्य है, किन्तु प्रयोग-क्षेत्र में इसकी संभावना कहाँ ? देखा गया है कि अत्यन्त प्रवीण शब्दशास्त्र तथा महाकवि की रचना में भी अशुद्ध पदों के प्रयोग प्राप्त होते हैं। इन प्रयोगों में कुछ तो प्रयोक्ता के प्रमाद को लेकर हैं, और कुछ ज्ञात भाव से प्रयुक्त हैं कवि जब भाव के आवेग में काव्य रचना करता है। तब सर्वदर्शन अथवा प्रत्येक शब्द का व्युत्पत्तिपरक अनुसरण उसके लिए संभव नहीं है, एतदर्थ अभिव्यक्ति की अस्पष्टता, उपमादि अलंकारों की व्यर्थता, अनुपयुक्त वर्ण-वैभव आदि त्रुटियाँ सब समय भावाभिव्यक्ति के सौन्दर्य की बाधक नहीं होती हैं। वक्तव्य की विशिष्टता के लिए काव्य में कभी-कभी दोष स्वाभाविक बन जाते हैं। ऐसे महाकवि दुर्लभ हैं जिनका काव्य सर्वथा निर्दोष हो। यदि ऐसे महाकवि प्राप्य हैं, तो उनकी संख्या बहुत कम है। कितने ऐसे सुकवि हैं जिनके काव्य में सामान्य काव्य-दोष आ ही जाते हैं। एतदर्थ दोषाभाव को मौलिक रूप में काव्य-लक्षण मानना समीचीन नहीं है। पुनः यह भी उल्लेख्य है कि काव्य में दो चार सामान्य दोष आ भी जायें तो उसे अकाव्यत्व घोषित करना उचित नहीं है। काव्य-गुणों के समाहार में ऐसे दोष छिप जाते हैं। कभी-कभी इनसे वैषम्य के चलते गुणों का आकर्षण प्रबल हो जाता है। कविकुल गुरु कालिदास का कथन है कि अनन्त रत्नों के प्रभव हिमालय का हिमसंचय सौन्दर्यविनाशक नहीं होता है। चन्द्र में कलंकत्व दोष रहने पर भी उससे शीतल किरणें चारों ओर उद्भासित होती हैं :

एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥[१]

तात्पर्य, निर्दोषता का अभाव असंभव है। साथ ही, दोष सब समय दोष नहीं रहते हैं। कभी वह गुण रूप हो जाता है।

दोष सब समय दोष नहीं हैं। नित्य दोष ही दोष है। उसकी अनित्यता कवि अथवा वक्ता के कौशल पर निर्भर करती है। दोष को सब समय अपकर्षत कहना समीचीन नहीं है।

काव्य का आकर्षण, भावानुकूल शब्द-चयन में है। एतदर्थ काव्य-सौन्दर्य के लिए कवि से अपेक्षित है कि काव्य में ऐसे भावगत तथा भाषागत रूपों की सृष्टि हो जिसमें किसी प्रकार की असंगति अथवा अनौचित्य न हो। काव्य का काव्यत्व उसके वर्ण्य और वर्णन में है। आकर्षक विषयवस्तु, तदनुरूप भाषा शिल्प विधान, उपयुक्त अभिव्यक्ति के उपकरण यथा शब्द-नियोजन, गुण, रीति, अलङ्कार आदि सभी हों। काव्य तभी आकर्षक होता है जब उसके विभिन्न अंग अपने वैशिष्ट्य को लेकर काव्य पुरुष के सौन्दर्य और चारुत्व का पोषण करें तथा उसके अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति करें। इस प्रसंग में साहित्यदर्पणकार ने सारसञ्चय किया है:

काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं रसादिश्चात्मा
गुणाः शौर्यादिवत् दोषा काणत्वादिवत्।
रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्,
अलङ्काराश्च कटककुण्डलादिवत् ॥[२]

पता नहीं, यह उद्धरण कहाँ किससे लिया गया है। किन्तु यह काव्यभाषा का सार-संग्रह है। इसमें काव्य के उत्कर्ष-साधनों की सार्थकता निरूपित है।

● ● ●

१. कालिदास : कुमारसंभव– १-३
२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण– परिच्छेद—१, पृ. १८-१९

पञ्चम अध्याय

संस्कृत काव्यशास्त्र के काव्यवाद : ध्वनि और वक्रोक्ति

(क) ध्वनिवाद और औचित्य-विवेक—

काश्मीरी महामनीषी आचार्य आनन्दवर्धन विरचित ग्रन्थ ध्वन्यालोक भरत के नाट्य शास्त्र की तरह काव्यशास्त्रीय चिन्तन का आलोक-ग्रन्थ है। काव्य के शास्त्र ग्रन्थ के रूप में इस ग्रन्थ का उतना ही महत्त्व है जितना व्याकरण में पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रन्थ का, अथवा वेदान्त दर्शन में वेदान्त सूत्र का।

इस ग्रन्थ की रचना ई० नवमी शताब्दी में हुई। इत: पूर्व भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्य के बाह्य पक्ष की प्रधानता देकर अलङ्कार, गुण और रीति में ही काव्यसौन्दर्य का निरूपण किया। आदि-आचार्य भरत ने दृश्य और श्रव्य काव्यों में वस्तु और भाव का गुणगान किया था, साथ ही गुण, दोष, अलङ्कार, प्रवृत्ति (रीति), वृत्ति आदि का निरूपण किया है। उनकी दृष्टि में काव्य में सर्वोपरि रस था। वही उसका मुख्य प्रतिपाद्य था। न हि रसाद् ऋते कश्चिद् अर्थ: प्रवर्तते। रस भाव रूप था। अलङ्कारवादी और रीतिवादी आचार्यों ने काव्य के आन्तरिक तत्त्व रस का विस्मरण तो नहीं किया, किन्तु उसका महत्त्व घटा दिया। आलङ्कारिकों ने रस को अलङ्कारों में अन्तर्गत कर रसवत् अलङ्कार की संज्ञा दी। इसी प्रकार भावों से युक्त अलङ्कारों को प्रेय कहा। फलत: भरत ने जिस व्यापक काव्य-चिन्तन की परम्परा बनाई थी। वह काव्य के बाह्य निरूपण में ही सिमट गई। अलङ्कार मत और रीति-मत के चलते काव्यालोचन बहिरंग उपादानों में कृत्रिम और प्राणहीन हो गया था, उसी समय आनन्दवर्धन ने ध्वनिवाद की स्थापना से काव्यशास्त्र में एक

वैप्लविक परिवर्त्तन ला दिया । उनकी दृष्टि में गुण, अलङ्कार और रीति सब काव्य के बहिरंग हैं । काव्य का अन्तरंग भाव या रस है, जो प्रतीयमान अर्थ है । शब्द का महत्त्व शब्दार्थ में ही है । इसी प्रतीयमान अर्थ के लिए ध्वनिकार ने ध्वनि का प्रयोग किया है ।

अपने ध्वनितत्त्व के विवेचन में आनन्दवर्धन ने व्याकरण शास्त्र के स्फोटवाद को आधार बनाया है । महाभाष्यकार पतञ्जलि का प्रसिद्ध वाक्य है : **प्रतीतिपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः** । ध्वनि से लोक में अर्थ-प्रतीति होती है । आचार्य ने माना कि काव्य के सौन्दर्य की प्रतीति के लिए ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ की आवश्यकता होती है । व्यंग्यार्थ प्रतीयमान अर्थ है । उस अर्थ की प्रतीति विशिष्ट वाच्य रूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचक रूप शब्द— दोनों से होती है । इस प्रकार ध्वनि केवल व्यंग्यार्थ का द्योतक नहीं है, अपितु, अभिव्यञ्जक शब्द और वाच्यार्थों की समष्टि और अभिनव व्यञ्जनाव्यापार का द्योतक है । आचार्य ने ध्वनि की परिभाषा दी है :

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[१]

ध्वनि काव्य-विशेष अथवा विशिष्ट काव्य है । इसमें प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से सर्वथा विलक्षण होता है । इसीलिए परिभाषा-कारिका में कहा गया है कि जहाँ वाच्य रूप अर्थ अथवा वाचक रूप शब्द अपने अर्थ को गौण कर उस अर्थ को अर्थात् प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करता है, उसे विद्वान् ध्वनि कहते हैं ।

प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ, वाचक शब्दादि में रहकर भी उनसे भिन्न होता है । जिस प्रकार सुन्दरी ललना के विभिन्न सुन्दर अवयवों के सौन्दर्य से अलग लावण्य शोभा पाता है । इस प्रकार महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ चमत्कार उत्पन्न करता है ।

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– १-१३, पृ. ३१

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।[१]

प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से आक्षिप्त अथवा आकृष्ट रूप है । यह शब्द, अलङ्कार, गुण, रीति प्रभृति से प्राप्त वाच्यार्थ से पृथक् तत्त्व है, किन्तु यह वाच्यार्थ से ही प्रकाशित है । किन्तु इसमें वाच्यार्थ का सर्वथा परिहार नहीं है । इसीलिए कहा जाता है कि यह वाच्यार्थ का आक्षिप्त रूप है । ध्वनिकार ने इसकी उपमा दीपशिखा के आलोक से की है और कहा है कि प्रकाश चाहने वाला व्यक्ति दीपशिखा के लिए प्रयत्नवान् होता है, क्योंकि दीपशिखा आलोक का उपाय है । दीपशिखा के अभाव में आलोक होना संभव नहीं है । इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के प्रकाशन में वाच्यार्थ की उपयोगिता है । दीपपात्र, स्नेह, दीप की वर्तिका, यहाँ तक कि स्वयं दीप-शिखा सब वाच्यार्थ हैं और उनसे विकीर्ण प्रभा व्यंग्यार्थ या ध्वनि है ।

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः ।
तदुपायतया, तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ।।[२]

काव्य में ध्वनि का प्रयोग पहले से ही प्रचलित था । किन्तु काव्यवाद के रूप में उसकी स्थापना के अनेक विरोधी थे । उन सभी को आड़े हाथ आचार्य आनन्दवर्धन ने लिया और अपनी प्रखर प्रतिभा के बलपर प्रबल युक्तियों से विरोधियों को परास्त किया और ध्वनिवाद की प्रतिष्ठा की, जिसका समर्थन मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ जैसे वाग्देवताओं ने किया ।

ध्वनि के विरोधी मतवादों का उल्लेख ध्वन्यालोक की प्रथम कारिकाओं में प्राप्त है ।

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, १-४, पृ० १३

२. आनन्दवर्धन : तत्रैव, १-९, पृ० २८

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥[१]

आनन्दवर्धन तीन प्रकारों के विरोधी थे। प्रथम विवादी अभाव वादी उठाते थे। उनका कथन था कि शब्द की एक ही शक्ति अभिधा है। **शब्दार्थौ काव्यम्** यही सटीक काव्यपरिभाषा है। शब्दालङ्कार हैं, अर्थालङ्कार हैं, शब्दार्थ में गुण और रीति का समावेश है। इन से भिन्न ध्वनि कोई वस्तु नहीं है। दूसरा विरोध मत भाक्त वादियों का था। भाक्तवादियों की दृष्टि में अभिधा से मुख्यार्थ प्राप्त होता है। और लक्षणा मुख्यार्थ से भिन्न अर्थों को प्रकट करती है। भाक्तवादी **गुणवृत्ति** कहकर लक्षणा और व्यंञ्जना दोनों को एक ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में ही हो जाता है। कुछ ऐसे आचार्य हैं जिन्हें अनिर्वचनीयवादी कह सकते हैं। ऐसे आचार्य अभिधा और लक्षणा से स्वतंत्र शब्दवृत्ति के रूप में व्यञ्जना को स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे ध्वनि कहने में कतराते हैं। आनन्दवर्धन का कहना है कि तत्त्वार्थ ज्ञान में अभाववादी अभाववादी ही हैं। उनके कुछ अग्रसर भाक्तवादी हैं। भाक्तवादियों की अपेक्षा अनिर्वचनीयवादी प्रगततर हैं, क्योंकि वे प्रतीयमान अर्थ लेकर कुछ सजग हैं। किन्तु ध्वनि लक्षण के अज्ञान के चलते उनके लिए ध्वनि अनिर्वचनीय ही रह जाता है।

आनन्दवर्धन ने अपनी प्रबल युक्तियों के आधार पर वाच्यार्थ से पृथक् व्यंग्यार्थ का स्वतंत्र अस्तित्व प्रमाणित किया और उसे ध्वनि से अभिहित किया। उनके मतानुसार प्रतीयमान अर्थ व्यंग्यार्थ या ध्वनि है जिसमें चमत्कार है। उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर ध्वनि-प्रस्थान प्रतिष्ठित किया। प्रकारान्तर से काल में व्यंग्यार्थ को प्राधान्य की स्वीकृति दी गई। वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, १-१, पृ. ३

अर्थ जिस व्यंग्य में प्राप्त हो, वही ध्वनि है। जैसा कि आगे चलकर ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने इसे परिभाषित किया है :

इदमुत्तममतिशायिने व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।[१]

ध्वनिकार ने ध्वनिकाव्य के दो भेद कहे हैं : अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि प्रकार का आधार लक्षणा है। यहाँ वाच्यार्थ का कथन अभीष्ट नहीं होता है। अर्थात् प्रसंगतः वाच्यार्थ अनुपयुक्त रहता है। वाच्यार्थ अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है। अथवा इसका रूपान्तर हो जाता है। कहीं-कहीं वाच्यार्थ सम्पूर्ण रूप से तिरस्कृत हो जाता है। इस प्रकार अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद हुए : (१) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि तथा (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

विवक्षितान्य-परवाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ विवक्षित रहता है। वक्ता की इच्छा रहती है कि वाच्यार्थ अपरिवर्तित रूप में प्रतीति गोचर रहे। अन्य अर्थात् व्यंग्य की ही प्रधानता रहती है और वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ परायण होने से गौण ही रहता है। प्रतीयमान अर्थ के सर्वातिशायी प्राधान्य न रहने से काव्य ध्वनि काव्य की मर्यादा प्राप्त नहीं कर सकता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने विवक्षितान्यपर वाच्य की दो कोटियाँ कहीं हैं— असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। यह वर्गीकरण इस आधार पर किया गया है कि वाच्यार्थ-प्रतीति और व्यंग्यार्थ प्रतीति के पौर्वापर्य में संलक्ष्यता है कि या संलक्ष्यता का अभाव। दोनों में ही वाच्यार्थ पहले आता है, तब व्यंग्यार्थ। किन्तु असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य रसादिध्वनि काव्य है, इसमें वाच्य से व्यंग्य तक पहुंचने में इतनी शीघ्रता होती है, कि क्रम होते भी उनका क्रम संलक्षित नहीं होता है। जिस प्रकार कमल पत्रदलों के भेदन में एक से दूसरे के भेदन में क्रम रहता हुआ भी लक्षित नहीं होता। आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि रसादि ध्वनि में विभावादि रूप वाच्यार्थ और रसरूप व्यंग्यार्थ प्रतीति के

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश १-४

मध्य क्रम रहता है अवश्य, किन्तु क्रम इतना सूक्ष्म है कि यह लक्षित नहीं होता है। सहृदय सामाजिक का चित्त विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव से निष्पन्न व्यंग्यार्थ के ऊपर निबद्ध होकर तन्मय हो जाता है और तभी अलौकिक रस का आस्वादन होता है। इस प्रकार सहृदय जब रसास्वादन में प्रवृत्त होता है तो वाच्यार्थ तत्काल तिरोहित-सा हो जाता है। और व्यंग्यार्थ रस उसे आविष्ट कर लेता है। रस की मर्यादा व्यंग्यार्थ-प्रतीति के असंलक्ष्य क्रम में होती है।

संलक्ष्य क्रम ध्वनि के अन्तर्गत वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि आते हैं। इसके भी तीन उपभेद होते हैं : शब्दशक्तिज, अर्थशक्तिज और उभय अर्थात् शब्दार्थशक्तिज। अन्तिम की संभावना केवल अलङ्कार ध्वनि में होती है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि त्रिविध भेदों में रसध्वनि को प्रधानता और उसे काव्य का प्राणकेन्द्र माना है। उनकी दृष्टि में रसास्वाद ही काव्य का मुख्य लक्ष्य है। शब्द, वाक्यार्थ, छन्द, रीति और अलंकार सभी रसप्रतीति के उपायमात्र हैं। रस लक्ष्य या उपेय है। उपेय के समक्ष उपाय गौण ही होते हैं। रस-परिवेशन के उद्देश्य से जो शब्द प्रयुक्त होते हैं अथवा जो वाच्यार्थ परिवेशित होता है, रस-सृष्टि के लक्ष्य जो काव्यगुण योजित होते हैं अथवा जो अलङ्कार प्रयुक्त होते हैं, वे शब्द, वाच्यार्थ, गुण अथवा अलङ्कार ही ध्वनि-प्रस्थान में वरणीय उपकरण होते हैं।

रस ध्वनि की प्रधानता देकर ध्वनिवाद में भरत की परम्परा का पालन हुआ है। आचार्य आनन्दवर्धन ने शब्द और अर्थ-रीति और वृत्ति, गुण और अलङ्कार सभी काव्योपकरणों की स्वीकृति दी है। किन्तु ध्वनि अथवा प्रतीयमान अर्थ के समक्ष वे सभी गौण हैं।

शब्द और अर्थ की उपोगिता ध्वनि में स्वतः सिद्ध है। ध्वनि वस्तुतः शब्द और अर्थ का ही चमत्कार है। **यत्परः शब्दः स शब्दार्थः** मीमांसा के वाक्य के अनुरूप ही अभिधा और लक्षणा के व्यापारों को लेकर दीर्घ से दीर्घतर अर्थ प्रतीति व्यञ्जना व्यापार में होती है। शब्द काव्य का शरीर है और अर्थ उसकी आत्मा, उसमें किसी भी विवेकी काव्यशास्त्री का मतभेद नहीं है।

काव्यगुण के स्वरूप को लेकर विद्वानों में मतभेद है। अलङ्कारवादी, रीतिवादि और रसवादी आचार्यों की मान्यता अपनी रुचि के अनुरूप ही है। दण्डी जैसे अलङ्कारवादी गुण और अलंकार दोनों को काव्य के शोभाकर धर्मों के रूप में ग्रहण करते हैं। उनकी दृष्टि में दोनों अन्तरंग तत्त्व हैं। गुण काव्य का शोभाकर धर्म है, स्वीकार्य है। किन्तु गुण की तरह अलंकार को शोभा तत्त्व मानने में सर्वसम्मति नहीं हो सकती है। गुण काव्य में सौन्दर्य का आधान करता है, किन्तु अलङ्कार सौन्दर्य का परिवर्धन तथा निष्प्रयोजन प्रयोग से उसका अपकर्षण भी करता है। अलङ्कार स्पष्टत: काव्य का बहिरंग ही होता है। अन्तरंग अथवा बहिरंग के रूप में गुण और अलंकार का ग्रहण आचार्य आनन्दवर्धन को अभीष्ट नहीं है। ध्वनि सूत्र में रस का आधिपत्य होता है। किसी अन्य काव्योपकरण का नहीं। अत: गुण के परिचय में आनन्दवर्धन का कथन है : काव्य के आत्मभूत रस का अवलम्बन जो करते हैं, वे गुण हैं। कटक कुण्डलादि आभूषणों की तरह अलङ्कार अंगाश्रित है। अर्थात् काव्य के शरीरभूत शब्द और वाच्यार्थ का अवलम्बन करने वाले अलङ्कार होते हैं।

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥[१]

आनन्दवर्धन ने गुणों को रसाश्रित कर उनका नया विवेचन दिया है। भरत की परम्परा के पालन में ये रसवादी आचार्य हैं। किन्तु गुणों के प्रसंग में भरत द्वारा निर्दिष्ट दस गुण उन्हें मान्य नहीं हैं। रसास्वाद में सहृदय सामजिकों की मानसिक अवस्थाओं का विश्लेषण कर उन्होंने माधुर्य, ओजस् और प्रसाद तीन गुणों की स्वीकृति की है। कुछ रस प्रधान काव्य-पाठों से मन विगलित होता है, कुछ से मन प्रज्वलित होता है, तथा सकल रस प्रधान काव्य के पाठ से दैनन्दिन जीवन की तुच्छता तथा ग्लानि के त्याग से मन निर्मल होता है। चित्त विगलन या द्रुति, चित्त प्रज्वलन अथवा दीप्ति तथा चित्त नैर्मल्य या स्वच्छता इन तीनों के अनुरूप

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– २-२९, पृ० ८२

आनन्दवर्धन ने रस के धर्मत्रय के रूप में माधुर्य, ओजस् और प्रसाद तीन गुणों को स्वीकारा है। यह ध्यातव्य है कि प्राचीन आलङ्कारिकों ने माधुर्यादि को शब्द और अर्थ के गुण माने हैं, जब कि ध्वनिवादियों ने इन्हें रस का धर्म कहा है। प्राचीन दस गुणों की मान्यता को अस्वीकार कर तीन मनोवृत्तियों के आधार पर गुणसंख्यानि-र्धारण ध्वनिवादी की मौलिक अवधारणा अवश्य है, किन्तु ऐसा मानना सभी दृष्टियों से समीचीन नहीं लगता है। चित्तवृत्तियों से गुणों को संबद्ध किया जा सकता है, पर गुणों को केवल रस-धर्म मानना संगत नहीं है। कुछ गुण यथा श्लेष, कान्ति आदि शब्दार्थ धर्म हैं। शब्दार्थगत गुण काव्य के शरीर भूत शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का आधान करते हैं।

इसी प्रकार रीति के लिए संघटना का प्रयोग विवेच्य है। आनन्दवर्धन ने गुण और संघटना का विवेचन करते हुए तार्किक पद्धति पर इन दोनों का पार्थक्य प्रतिपादित किया है। संघटना को भाषिक आधार पर असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा नाम देकर तीन संघटनाएँ निर्धारित की हैं। वस्तुतः ये तीन उपनागरिका, कोमला और परुषा तीन वृत्तियों के समरूपक लगती हैं। संघटना-स्वरूप लेकर आचार्य की मान्यताएँ तर्कसंगत लगती हैं। उनकी दृष्टि में संघटना माधुर्यादि गुणों का आश्रय लेकर स्थित है और रस की व्यंजना करती है। वह वक्ता और वाच्य के औचित्य से नियमित है।

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥[१]

अलङ्कारनिरूपण में आचार्य आनन्दवर्धन की समन्वयवादी भावना स्पष्ट है। अलङ्कार को रसोत्कर्ष के उपकारक के रूप में उन्होंने देखा है। तात्पर्य, अलंकार-वाच्य अर्थ तथा वाचक शब्द का उपस्कार कर रस की व्यंजना में सहायक होता है।

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– ३-६२, पृ. १८१

अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्॥[1]

अलङ्कार-विवेचन के आरम्भ में उन्होंने कटक-कुण्डलादि का दृष्टान्त दिया है। अत: ध्वनि-सम्प्रदाय में अलङ्कार-स्वरूप का निरूपण आवश्यक हो जाता है। उन्होंने अलङ्कार ध्वनि की स्थापना की, जिसका चमत्कार अलङ्कार-जनित ही होता है। साथ ही उन्होंने कहा कि रस को प्रकाशित करने वाले चमत्कार से वाच्य ही रूपक अलङ्कार है।

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
स सर्वो गम्यमानत्वं विभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः॥[2]

स्पष्टत: आनन्दवर्धन के मतानुसार अलङ्कार की सार्थकता रस के प्रकाशन में है। रस की व्यञ्जना वाच्यार्थ से ही होती है।

अलङ्कार को कटक-कुण्डल कहने का तात्पर्य इतना ही है कि रस प्रधान है और अलङ्कार रस का पोषक अथवा प्रकाशक। इससे अधिक अर्थ-ग्रहण में कठिनाई आ जाती है। मानव शरीर के आभूषक कटक-कुण्डल को शरीर से अलग कर देने पर सौन्दर्य में कोई विशेष व्याघात नहीं होता है। किन्तु काव्य में उपमा, रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की स्थिति उससे भिन्न है। कटक-कुण्डल की तरह उन्हें हटाया नहीं जा सकता है। इन अलङ्कारों का सम्बन्ध काव्य से नियत-सा है। इनके अभाव में शब्द-संकेत निष्प्राण जैसे हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य है कि काव्य और अलङ्कार दोनों स्वत: स्वतंत्र रूप से पृथक् नहीं हैं। आनन्दवर्धन इस तथ्य से अवगत थे। काव्य में अलङ्कार को बाह्य तथा अन्तरंग काव्य धर्म मानने वाले दो भिन्न मत प्रचलित थे, उनसे उनकी असहमति थी। उन दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए रसोत्कर्ष में अलङ्कार की उपादेयता प्रमाणित कर अलङ्कार के मूल्यांकन में उन्होंने अपना उदार दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– ३-७०, पृ० २०९

२. आनन्दवर्धन : तत्रैव– २-४९, पृ० १३४

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धश्शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वत्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥[१]

वहीं कारिका की वृत्ति है:

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्यक्रियो भवेत् सोऽस्मिन्नलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलङ्कारो मतः। तस्य रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः।

वस्तुतः रस और ध्वनि के परिवेश में अलङ्कार-नियोजन आचार्य आनन्दवर्धन को काम्य है। रस और ध्वनि ही प्रधान हैं, और अलङ्कार गौण। काव्य की शोभावृद्धि में अलङ्कार का महत्त्व स्वीकृत है, किन्तु कभी भी रस-मर्यादा का उल्लंघन अलङ्कार द्वारा आचार्य को मान्य नहीं है। अलङ्कार आत्मरूप में स्वीकार्य नहीं है। अतः आचार्य की मान्यता है कि जो अलङ्कार रसाक्षिप्त है, अर्थात् रस जिसको आकृष्ट करता है, वही अलङ्कार है। प्रयत्नज आलङ्कारिक प्रयोग काव्य की शोभा में बाधक ही होता है। कवि की-भावाभिव्यक्ति में जो अलङ्कार स्वतः अनायास समाहित होता है, वही अलङ्कार अलङ्कारत्व का दावा कर सकता है।

काव्य में अन्तरंग अलङ्कार स्वतः स्फूर्त होता है। इसे हम रसाक्षिप्त भी कह सकते हैं। वैसा अलङ्कार अंगीरूप में काव्यरस के समक्ष गौण रहकर रसोत्कर्ष में साधक होता है। आचार्य के ही निर्देश हैं:

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथञ्चन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥

निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥[२]

---

१. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक– २-३९, पृ० ९२
२. आनन्दवर्धन : तत्रैव– २-४१,४२, पृ० ९६-९७

रससिद्ध कवि भावोद्वेलित होकर काव्य रचना में प्रवृत्त होता है, तो भाव स्वतः अलंकृत हो जाता है। रस-व्यंजना अथवा भाव-व्यंजना के साथ सहज भाव से आने वाले अलंकार को आचार्य ने **अपृथग्यत्लनिर्वर्त्य** अलङ्कार कहा है। ऐसे ही अलङ्कार ध्वनि-काव्य में गृहीत हैं। (द्रष्टव्य, ध्वन्या० २-३९)। किन्तु जिस अलङ्कार-प्रयोग में कवि की अनुभूति सहज नहीं होती, अथवा केवल उक्तिभंगी के रूप में शब्द चमत्कार और अर्थचमत्कार का प्रदर्शन ज़िस अलंकार से होता है, उसे **पृथग् यत्न निर्वत्य** की संज्ञा दी गई है। ध्वनि के अभाव में उसमें चारुत्व नहीं होता है। ऐसी रचना को आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य कहा है, जो सामान्यकोटि है। ऐसा अलङ्कार काव्य का अन्तरंग नहीं हो सकता है।

निष्कर्ष, आनन्दवर्धन की मान्यता रही है कि ध्वनि-प्रस्थान में अलङ्कार वाच्योपस्कारक के रूप में शरीर है, किन्तु व्यंग्य होने पर ध्वनि के रूप में वह शरीरी बन जाता है।

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्कारा: परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गताङ्गताः ॥[1]

आचार्य आनन्दवर्धन का ध्वनिवाद वस्तुतः रसवाद का रूपान्तर है। प्रथम कारिका में **काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति—काव्य की आत्मा ध्वनि है**। ध्वनि प्रतीयमान अर्थ है, वही रस है, क्योंकि व्यंग्य है। तब ध्वनिकार का कथन है :

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥[2]

स्थायी भाव का करुणरस है, वह काव्य की आत्मा है।

ध्वनि काव्य की आत्मा है, किन्तु रसध्वनि सर्वोपरि है। रस स्वतः व्यंग्य या ध्वनि है।

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– १-५१, पृ० १५०

२. आनन्दवर्धन : तत्रैव– १-५, पृ० २१

आचार्य ने गुण, संघटना, अलङ्कार आदि काव्य-तत्त्वों को भी रस-चिन्तन की परिव्याप्ति में ही विवेचित किया है। विवेचन की पद्धति वैज्ञानिक है। किन्तु रस के सार्वभौमत्व के प्रति आचार्य का जो मोह है, उससे उनका विवेचन आंशिक रूप से पूर्वाग्रहयुक्त ही हो गया हैं। रस और भाव काव्य के अन्तरंग हैं। ये प्रधान हैं। उनके सामने गुण, अलङ्कारादि का सौन्दर्य गौण है। इतना तो समझ में आ जाता है। किन्तु वस्तु ध्वनि, रस ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि तीनों एक ही स्तर पर हैं। वस्तु ध्वनि और रस ध्वनि का अन्तर तात्त्विक नहीं है। तथापि रस-ध्वनि ध्वनि चक्र में सबसे ऊपर है और अन्य ध्वनिरूप उसके नीचे। इसकी सर्वस्वीकृति संभव नहीं है। आचार्य ने प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों को काव्य की आत्मा के रूप में स्थित और सहृदय श्लाघ्य माना ही है :

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥[1]

प्रतीयमान अर्थ अधिकांशतः वाच्यार्थ के आधार पर होता है। भाषा सम्प्रेषण रूप है। उसमें वाच्यार्थ की प्राथमिकता असन्दिग्ध है। व्यंग्यार्थ में चमत्कार है। किन्तु केवल प्रतीयमान अर्थ को ही काव्यात्म रूप में ग्रहण करना कष्टकल्पना है।

अस्तु, भारतीय काव्यचिन्तन में ध्वनिवाद का ऐतिहासिक महत्त्व है। उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। काव्य सौन्दर्य में भाव अथवा रस की प्रधानता भी असन्दिग्ध है। ध्वनि के रूप में रसोपलब्धि ध्वनिवाद की निजी विशिष्टता है। यही कारण है कि ध्वनि के विरोधी आचार्यों ने ध्वनि का विरोध किया, किन्तु रस को काव्यात्मरूप में स्वीकार किया।

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– १-२, पृ० १२

औचित्यविवेक—

भाव और भावाभिव्यक्ति का समुचित विधान ही काव्य है । रस, भाव, गुण, रीति, अलङ्कारादि सभी उपादानों को औचित्य के निर्वाह के साथ उपस्थापित करने में काव्य-सौन्दर्य है । **उचितस्य भावः औचित्यम्**—उचित का भाव औचित्य है, अर्थात् काव्य में काव्य तत्त्वों का उचित रूप में प्रयोग ही औचित्य है ।

ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने अलङ्कार, गुण, संघटना, प्रबन्ध, रीति (रस-वृत्ति) तथा रस में औचित्य का आग्रह रखा है । उनका कथन है कि औचित्य ही रस बन्ध का कारण है और अनौचित्य से रस भंग होता है ।

तदयमत्र परमार्थः ।

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥[१]

औचित्य ही रस की उपनिषद् है, वही सार है ।

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥[२]

आनन्दवर्धन के पूर्व भी भरत, रुद्रट आदि आचार्यों ने औचित्य का उल्लेख किया था । भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में पात्रों की प्रकृति, वेशभूषा; भाषा आदि के अनुरूप प्रयोग अथवा औचित्य की चर्चा की है ।

नाट्यशास्त्र का पद्य है :

वयोऽनुरूपः प्रथमं तु वेषो
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः ।

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– ३-७१, पृ० २१३
२. आनन्दवर्धन : तत्रैव– ३-८८, पृ० २९४

गतिप्रचारानुगतञ्च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥[१]

नाट्य-प्रदर्शन में वय के अनुरूप वेष होना चाहिए। वेश के अनुरूप गति आदि क्रियायें हों। गति के अनुकूल संवाद तथा संवाद के अनुकूल अभिनय का संयोजन होना चाहिए।

पाठ में अनुरूपता या आनुकूल्य आया है, यह अनुकूलता औचित्य का ही पर्याय है। उचित प्रयोगों से ही आहार्य-अभिनय की सफलता है। प्रत्येक प्रान्त की अपनी भाषा होती है। देश के अनुसार वेष होता है, पात्रानुकूल संवाद के अनुरूप अभिनय होने से नाट्य प्रभावी होता है।

ऐसा ही एक प्रसंग आगे चलकर उल्लिखित है :

देशजातिविशेषेण देशानामपि कारयेत्।
वेषं तथा चाभरणं क्षुरकर्मपरिच्छदम्॥

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥[२]

गले में मेखला और हाथ में नुपूर धारण करने से कोई व्यक्ति उपहास का कारण ही बन जायेगा। देश, काल, पात्र की विभिन्नता से वेष-भूषा में आ जाता है और तदनुसार नाट्य-प्रयोग अपेक्षित हैं।

नाट्याभिनय में औचित्य रक्षण के लिए शृङ्गार प्रकाश में यशोवर्मा का सिद्धान्त उल्लिखित है। जहाँ अभिनय की सफलता के लिए पात्रानुकूल भाषा-प्रयोग, अनुकूल सरस कथा; अभिनय प्रस्तुतीकरण आदि का औचित्य प्रतिपादित है।

---

१. भरत : नाट्य शास्त्र– १३-६४

२. भरत : तत्रैव– २१-७०, ७१

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता-
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयोः
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैरेतावदेवास्तु नः ॥[१]

यहाँ औचित्य का स्पष्ट उल्लेख है। औचित्य की महत्ता अभिनय के लिए प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकृत हुई है।

काव्य के वास्तविक तत्त्व के रूप में औचित्य का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य रुद्रट द्वारा हुआ है। सत्काव्य में औचित्य की स्वीकृति उनके वचन में स्वीकृति है:

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थाम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरचनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ॥[२]

इसी प्रकार आनन्दवर्धन के समकालीन आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति जीवित में काव्य के सौन्दर्य विधायक तत्त्व के रूप में औचित्य प्रतिपादित हैं। वहाँ रीति पर्यायक मार्ग के शोभाधायक गुणों में प्रथम स्थान औचित्य को दिया गया है।

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥[३]

वहीं कहा गया है कि वक्रोक्ति काव्य का प्राण है, तो वक्रोक्ति का मूलाधार औचित्य ही है। वक्रोक्ति जीवित के वृत्तिवाक्य हैं :

तत्र पदस्य तावदौचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः।......उचिताभिधानजीवित्वाद् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः ॥[४]

---

१. यशोवर्मा : शृंगार प्रकाश– २-११

२. रुद्रटः काव्यालङ्कार– २-३२

३. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित– १-५३

४. कुन्तक, तत्रैव– १-५७ की वृत्ति– पृ० ७०

औचित्य में काव्य का आधान है और अनौचित्य से काव्य की हानि होती है। व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट ने अनौचित्य को दोष का लक्षण माना है।

एतस्य (अनौचित्यस्य) विवक्षितरसादिप्रतीतविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्—[१]

रसादि की प्रतीति में अनौचित्य से विघ्नविधान होता है।

पूर्ववर्ती आचार्यों की औचित्य सम्बन्धी मान्यताओं के आधार पर अभिनव गुप्त के कृती शिष्यक्षेमेन्द्र ने सर्वप्रथम काव्य में औचित्य को मूल तत्त्व मानकर औचित्य विचार चर्चा सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना की। वे रसवादी थे। उन्होंने माना कि काव्य में प्राण भूत रस का जीवन औचित्य है, काव्य के भावगत अथवा भाषा-गत सभी चमत्कार औचित्याश्रित ही हैं।

औचित्य शब्द का उद्भव **उचित** से हुआ है। काव्य अथवा जीवन में जो कुछ वस्तु अथवा भाव के अनुरूप है, वही औचित्य है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा दी :

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।[२]

औचित्य की कोई सीमा नहीं है। सभी सद्गुणों का आधार औचित्य ही है। अतः क्षेमेन्द्र ने माना कि काव्य के अन्तरंग तत्व हों, अथवा बहिरंग, भाव अथवा भावाभिव्यक्ति—दोनों में औचित्य-रक्षण अपेक्षित है। भारतीय काव्यशास्त्र की मान्य सरणि का अनुसरण करते हुए उन्होंने माना अलङ्कार काव्य का बहिरंग है। अलङ्कार अलङ्कार ही होता है, वह अलङ्कार्य नहीं हो सकता। गुण भी गुण है। भावाश्रित होकर गुण काव्य का अन्तरंग बन जाता है, किन्तु उसे काव्यात्मतत्त्व का स्थान प्राप्य नहीं है। काव्य का मुख्य तत्त्व रस है, जिसका आस्वाद सहृदय

---

१. महिम भट्टः व्यक्तिविवेक— २-१५२— वृत्ति

२. क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा— ७ कारिका

सामाजिक आह्लाद के रूप में करता है। किन्तु उस सर्वाधिक महत्त्व रस का भी जीवन औचित्य है। इसीलिए तो आन्दवर्धन ने रस को उपनिषद् विद्या कहकर औचित्य का गुणगान किया था। क्षेमेन्द्र की मान्यता है :

अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुण एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।[१]

औचित्य काव्य का जीवित अथवा जीवन-स्वरूप है। रस के काव्यात्मत्व के साथ प्राणसंजीवन औचित्य में है। सह संबन्ध को लेकर- औचित्य काव्य का अंग नहीं है अपितु; अंगी के रूप में उसकी स्वीकृति आवश्यक है। क्षेमेन्द्र के मतानुसार गुण, अलङ्कारादि काव्य तत्त्व औचित्य के अभाव में अपने गुणत्व और अलङ्कारत्व को खो देते हैं। साथ ही, अनौचित्य वश रस रसाभास में परिणत हो जाता है।

काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्या जनितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।[२]

वस्तुतः औचित्य काव्य का सर्वांगीण गुण है। काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी व्याप्ति है। इसीलिए क्षेमेन्द्र ने औचित्य की चर्चा काव्य के रूप में की है। औचित्य एक ऐसा काव्यतत्त्व अथवा काव्योपदान है जो बहिरंग और अन्तरंग पक्षों को अनुप्राणित करता है। औचित्य सिद्धान्त का किसी भी काव्य सम्प्रदायवाद से विरोध नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि विभिन्न काव्यवादों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का व्याकरण औचित्य विवेक है।

काव्य में शब्द, शब्दार्थ, गुण, रीति अलंकार, ध्वनि, विभावानुभाव, भाव तथा रस सभी की सृष्टि तभी सौन्दर्याधायक होती है, जब उनमें औचित्य हो। कहा है—

---

१. क्षेमेन्द्र : औचित्यविचारचर्चा- कारिका १२

२. क्षेमेन्द्र : तत्रैव- कारिका ११

उचितस्थानविन्यासाद् अलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥[1]

औचित्य एक काव्य गुण है । काव्य औचित्याश्रित है, ऐसी मान्यता क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ में रखी है । आनन्दवर्धन ने औचित्य को रसाश्रित माना था । द्रष्टव्यः उचितशब्देन रसविषयौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेः जीवितत्वं सूचयति । तद्भावे हि किमपेक्षया इदमौचित्यं नाम सर्वत्र उद्घोष्यते इति भावः ।[2]

किन्तु क्षेमेन्द्र की दृष्टि में काव्य के सभी तत्त्व, यहाँ तक कि रस, औचित्याश्रित होते हैं ।

औचित्यस्य चमत्कारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥[3]

स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि रसवादी आचार्यों ने रस-सिद्धि में औचित्य के महत्त्व को संकेतित किया था । उसे एक काव्यसिद्धान्त के रूप में क्षेमेन्द्र ने काव्य के आत्मसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया है । भरत के नन्दनवन में औचित्य पारिजात उत्पन्न हुआ । रुद्रट, यशोवर्मा आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने उसे परिवर्धित किया । उसी वृक्ष को क्षेमेन्द्र ने पल्लवित और पुष्पित कर नव रूप दिया है । जिसकी विशाल छाया में उन्होंने सभी काव्य-तत्त्वों को समेट लिया है । फलतः काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में औचित्य की व्याप्ति है । काव्य के वर्ण, पद आदि लघुतम अवयवों से आरम्भ कर प्रबन्ध तक सर्वत्र औचित्य विन्यास को लेकर चमत्कार उत्पादन करने का सर्वप्रसारी प्रयास हुआ है ।

औचित्यविचारचर्चा में सत्ताईस औचित्य वर्णित हैं : वर्ण, पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल,

---

१. अभिनव गुप्त : ध्वन्यालोक– लोचनटीका– पृ० १३

२. क्षेमेन्द्र : औचित्यविचारचर्चा– कारिका– ३

३. क्षेमेन्द्र : तत्रैव– कारिका– ८,९,१०

देश, कुल, व्रत, तत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और शुभांशसन।

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे॥

उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे॥

प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्यथाशिषि।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्॥[१]

इन सताईस भेदों के अतिरिक्त वृत्त के औचित्य का उल्लेख उनकी अन्य रचना **सुवृत्ततिलक** में आया है। उपर्युक्त औचित्य-प्रकार निर्देशपरक ही हैं, सीमा-निबन्धक नहीं है। क्षेमेन्द्र की मान्यता है कि काव्य-तत्त्वों की अनन्तता को लेकर औचित्य भी अनन्त हैं।

क्षेमेन्द्र का औचित्यवाद काव्य का सर्वमान्य चिन्तन है। जिसमें काव्य और भाषा दोनों के भावगत और रूपगत औचित्यों का सन्निवेश है। इसे हम काव्यवाद कह सकते हैं। भाषा वाद भी कह सकते हैं। काव्य सम्प्रदाय, जो संकुचित अर्थ में प्रयुक्त है, औचित्य के लिए उपयुक्त नहीं है।

(ख) वक्रोक्ति–काव्य-भाषिकी

काव्यभाषा भाषा का एक विशिष्टीकरण है। वाच्य-वाचक की चमत्कृति लेकर काव्य उक्ति-विशेष है। जिसका आकर्षण मूलतः भाषिक होता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रचलित काव्यवादों में कुन्तक का वक्रोक्तिवाद काव्य के उक्तिमूलक चमत्कार पर ही आधृत है। उक्ति-वैशिष्ट्य को ही उन्होंने वक्रोक्ति की संज्ञा दी है। वक्रोक्ति ही उनकी दृष्टि में काव्य का प्राण अथवा जीवित है।

---

१. क्षेमेन्द्र, तत्रैव, कारिका, ८.९.१०

वक्रोक्ति वैदग्ध्य-भंगी-भणिति है । कथ्य और कथन दोंनों के चमत्कार एक साथ प्राप्त होते हैं । वह काव्य का पर्याय है ।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।।[१]

सामान्य अथवा प्रसिद्ध कथन से भिन्न विलक्षण वर्णन-शैली वक्रोक्ति है । इसमें कवि-कर्म की कुशलता अथवा विदग्धता पाई जाती है । वक्रोक्तिकार कुन्तक की कारिका है—

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ।।[२]

कारिका के व्याख्यानं में कहा गया है :

वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी वैदग्ध्यभङ्गी भणितिः ? वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते । तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत् शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ न केनापि व्यतिरिक्तेनालङ्करणेन योज्येते, किन्तु वक्रतार्थवैचित्र्ययोगितयाभिधानमात्रमेवानयोरलङ्कारः, तस्यैव शोभातिशयकारित्वात् ।[३]

यह स्वीकार्य है कि काव्य के गुण-दोष उक्ति पर ही आश्रित हैं । उक्ति-वैशिष्ट्य को लेकर भारतीय काव्यशास्त्र में रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, अलङ्कार सम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय आदि मुख्य हैं । किन्तु काव्य के भावगत तथा रूपाकार गत दोनों सौन्दर्यों के समन्वित और सर्वांशिक विवेचन लेकर वक्रोक्तिवाद का विशिष्ट महत्त्व है । काव्य-चमत्कार शब्द और शब्दार्थ में उनके पारस्परिक सुनियोजन में सौन्दर्य लेकर होता है । यह निर्विवाद है कि काव्य का प्रत्येक अंग

---

१. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित, १-७, पृ.६

२. कुन्तक : तत्रैव, १-१०, पृ. २०

३. कुन्तकः तत्रैव– पृ० २०

अपनी विशेषता और स्वनिष्ठता लेकर प्रयुक्त हो। काव्य-सौन्दर्य तभी संभव है, जब काव्य के शब्दगत और अर्थगत चमत्कार पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध से एकत्व में उपस्थित हों। वक्रोक्तिकार कुन्तक ने काव्य साहित्य का यही रूप वक्रोक्तिजीवित में रखा है—

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।
अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः॥

वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥

सा काप्यवस्थितिस्तद्विदाह्लादनिबन्धनम्।
पदादिवाक्यपरिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते॥[१]

शब्द और अर्थ-दोनों के साहित्य में ही साहित्य पद की सार्थकता है। दोनों में ही चमत्कार अपेक्षित है। एतदर्थ साहित्य, जो काव्य का ही पर्याय है, एंक सुन्दर और हृदय स्पर्शी समन्वयरूप है।इसमें काव्य के विभिन्न तत्त्व, उपयुक्त शैली, माधुर्यादि गुण, भावानुकूल अलङ्कार-विन्यास, वृत्तियों का औचित्य, आदि वक्रोक्ति चमत्कार परस्पर स्पर्धा के साथ विद्यमान रहते हैं, सभी से रस अथवा कथ्यभाव का परिपोषण होता है। स्पष्टतः वक्रोक्ति काव्य सौन्दर्य की रूपाकृति है। जिसमें भाव और भावाभिव्यक्ति दोनों के सौन्दर्य एक साथ प्राप्त हैं।

वक्रोक्ति टेढ़ी अथवा तिरछी उक्ति नहीं है। यह काव्यशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। इसे हमने काव्य-भाषिक की संज्ञा दी है।

वक्रोक्तिवाद के शास्त्रीय और नियमित विवेचन को प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को है। किन्तु यह स्वीकार्य है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त भारतीय काव्य-चिन्तन में कोई आकस्मिक घटना नहीं है। यह विचार परम्परा की परिणति-मात्र है। ख्रि षष्ठ शतक के बाण भट्ट से आरम्भ कर दशम शतक के कुन्तक के समय में इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है।

---

१. कुन्तकः : तत्रैव, पृ० २५

बाणभट्ट के कादम्बरी गद्य-ग्रन्थ में **वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यान-परिचय-चतुरेण** वाक्य व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ वक्रोक्ति केवल शाब्दी क्रीड़ा के लिए नहीं है, इसमें वाणी के चमत्कार अर्थ समाविष्ट हैं। स्पष्टतः बाणभट्ट का वक्रोक्ति शब्द प्रयोग इतिवृत्त वर्णन से भिन्न काव्य की चमत्कारपूर्ण शैली अथवा विदग्ध वचन के लिए हुआ है। अन्यत्र हर्षचरित के प्रारम्भ में इसके विश्लेषक गुणों का वर्णन उन्होंने यों किया है :

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।।[१]

अर्थ अथवा वाच्य की नवीनता, ग्राम्यता दोष मुक्तशैली, अक्लिष्ट श्लेष योजना, स्पष्टप्रतीयमान रस, विलक्षण वर्णविन्यास आदि गुणों का एकत्र समावेश दुर्लभ है। स्पष्टतः यहाँ वक्रोक्ति मार्ग शब्द और अर्थ दोनों के चमत्कार के लिए प्रयुक्त है।

वक्रोक्ति का प्रथम काव्यशास्त्रीय लक्षण भामह के काव्यालङ्कार ग्रन्थ में उपलब्ध है। वहाँ वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का अन्तर्भाव है। **वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः** तथा **वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिर-लङ्काराय कल्पते।**[२] स्पष्टतः भामह की दृष्टि में शब्द और अर्थ दोनों की समन्वित वक्रता में ही वक्रोक्ति है। एतदर्थ शब्द और अर्थ के लोकोत्तर प्रयोग में अर्थात् इतिवृत्त सामान्य कथन से भिन्न चमत्कारक प्रयोग में वक्रोक्ति लक्षण उन्होंने निम्न कारिका में रखा है :

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।।[३]

---

१. बाणभट्टः हर्षचरित– १-८

२. भामहः काव्यालङ्कार– १-६

३. भामह : तत्रैव– २-८५

वक्रोक्ति से काव्यार्थ का भावन विशिष्ट रूप में होता है। इसके अभाव में अलंकार यथार्थ अलंकार नहीं होते हैं। वक्रोक्ति के इस लक्षण में भामह ने वक्रोक्ति को काव्यार्थ-निरूपण में विशिष्ट महत्त्व दिया है। यह सर्वप्रसारी महत्त्व है। वक्रोक्ति विहीन कथन को उन्होंने वार्ता का नाम दिया है। **गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः**—सूर्य डूब गया, चन्द्रोदय हुआ और पक्षी अपने-अपने घोंसले के लिए चल दिए। जैसा वाक्य पद्यबद्ध है, किन्तु केवल वार्ता है, क्योंकि इसमें ऐसी उक्ति विलक्षणता नहीं है, जिससे कोई विशिष्ट अर्थ सूचित हो।

भामह के बाद वक्रोक्ति का प्रसंग दण्डी के काव्यादर्श में प्राप्त है। दण्डी ने वाङ्मय के दो व्यापक भेद माने हैं—स्वभावोक्ति या जाति और वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति में जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि पदार्थों का साक्षात्स्वरूप वर्णित रहता है, जब कि वक्रोक्ति में पदार्थों का वक्र अथवा चमत्कारपूर्ण वर्णन प्राप्त है। दण्डी के अनुसार वक्रोक्ति में श्लेष का प्रयोग किसी न किसी रूप में होता है। साथ ही, इसमें उपमादि अलंकारों का समावेश रहता है। दण्डी के कथन हैं :

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिः ॥[१]

तथा—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥[२]

स्पष्टतः दण्डी के मतानुसार **वक्रोक्ति** सामान्य कथन से भिन्न होती है। उसमें चमत्कार-सृजन के लिए सामान्य जन-भाषा से भिन्न भाषा शैली का प्रयोग अपेक्षित है। अलङ्कारवादी दण्डी-की धारणा थी कि उन्होंने काव्य के सौन्दर्य विधान में अलङ्कारों की अनिवार्यता मानी है। अलङ्कारों की अलङ्कृति वक्रोक्ति है, जिसमें श्लेष, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों के बहुल प्रयोग होते हैं। ये अलङ्कार काव्य

१. दण्डी : काव्यादर्श– २-८
२. दण्डी : तत्रैव– २-२६३

में सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्याभिवृद्धि से संबद्ध होते हैं । चमत्कृति विशिष्ट वर्णन की इच्छा से उत्पन्न होती है ।

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा ।।[१]

वक्रोक्ति के सम्बन्ध में भामह और दण्डी प्रायः एकमत हैं । दोनों ने लोक वार्ता से भिन्न वाग्-भंगिमा में वक्रोक्ति का अभिधान किया है । अन्य सभी अलङ्कारों का आश्रय वक्रोक्ति-विधान में ही इन दोनों ने माना है । भामह और दण्डी दोनों ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में अभेद-स्थापन किया; लोक सीमा का अतिक्रमण करने वाली उक्ति ही अतिशयोक्ति है, वही सर्वश्रेष्ठ अलंकार है । इस प्रकार लोक सीमातिवर्तिनी अतिशयोक्ति तथा स्वभावोक्ति से भिन्न वक्रोक्ति में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दण्डी ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण कर अलङ्कृति के रूप में अलङ्कार सामान्य माना है । उनके मतानुसार वक्रोक्ति से भिन्न नहीं है, किन्तु यह स्वभावोक्ति से अवश्य भिन्न है । स्वाभावोक्ति का प्रसार सामान्य भाषा में सर्वाधिक है, तथापि यह काव्य में भी अवाञ्छनीय नहीं है । किन्तु काव्य में वक्रोक्ति की अनिवार्यता है ।

जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम् ।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।।[२]

उदाहरण स्वरूप मन्तव्य के पोषण में उन्होंने ऐसे चमत्कारक पद्य रखे हैं जिनमें स्वभावोक्ति बड़ी आकर्षक है ।

प्रथमतः कपोत-कपोती की परस्पर प्रीति का काव्य-गान है :

---

१. दण्डी : तत्रैव– २-२१४

२. दण्डीः तत्रैव– २-१३

कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः ।
पारावतः परिभ्रम्य रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम् ॥

बध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्चं कुर्वन् मनसि निर्वृतिम् ।
नेत्रे चामीलयन्नेष प्रियास्पर्शः प्रवर्तते ॥

वहीं शिवविषयक भक्तिभाव निम्न पद्य में वर्णित हैं

कण्ठे कालः करस्थेन कपालेनेन्दुशेखरः ।
जटाभिः स्निग्धताम्राभिराविरासीद् वृषध्वजः ॥

दोनों उदाहरणों में भाषा और भाव, शब्द-चमत्कार और अर्थ चमत्कार दोनों वाच्यार्थ या इष्टार्थ ज्ञापन में समान रूप से सत्काव्य के लिए पर्याप्त हैं । कवि माघ के शब्दों में **शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ।**

वक्रोक्ति-विवेचन में भामह और दण्डी के बाद वामन और रुद्रट आते हैं । वामन के मतानुसार **सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः**[१] सादृश्यमूला लक्षणा वक्रोक्ति है । अर्थ चमत्कार लेकर वामन की वक्रोक्ति अर्थालंकार है । सूत्र की वृत्ति में कहा गया है । लक्षणा के बहुत से निबन्धन हैं । सादृश्यनिबन्धना लक्षणा में ही वक्रोक्ति होती है ।जिस लक्षणा में सादृश्य का निबन्ध नहीं है, वहाँ वक्रोक्ति नहीं होती है । उदाहरण दिया गया है : **उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं निमिमील पुरस्तात्**— सूर्योदय होते ही सरोवर में कमल विकसित हो गये, वहीं कुमुद सकुचा गये । यहाँ उन्मीलन और निमीलन, जो नेत्र धर्म हैं, क्रमशः कमल के विकास में कुमुद के संकोच में सूचित हैं । वाक्यार्थ में सादृश्यमूला लक्षणा वक्रोक्ति है । वामन की एतादृशी वक्रोक्ति-कल्पना उनमें ही सीमित है, क्योंकि उनकी स्थापना का अनुमोदन किसी आलङ्कारिक ने नहीं किया है । साथ ही वामन की उपर्युक्त स्थापना विवाद का विषय है । वामन की दृष्टि में सादृश्यमूला लक्षणा में ही वक्रोक्ति अथवा वक्रता है । किन्तु सादृश्य निबन्धना लक्षणा के अतिरिक्त अन्य लक्षणाओं में भी वक्रता उपलब्ध होती है । विपरीत लक्षणा में सादृश्य का सर्वथा अभाव रहता है, किन्तु

---

१. वामन : काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति– ४-३-८

विपरीत लक्षणा में वक्रता वक्रतर ही होती है। वामन की स्थापना के विरुद्ध एक और आक्षेप है कि उनकी वक्रोक्ति लक्षणा में सीमित है। वस्तुस्थिति तो यह है कि अभिधा में भी वक्रता समान रूप से उपलब्ध होती है।

रीतिवादी वामन ने रीति की परिभाषा **विशिष्टा पदरचना रीतिः** कहकर दी है। साथ ही, उन्होंने कहा : **विशेषो गुणात्मा** इस प्रकार गुण से उत्पन्न विशिष्टता वक्रता का ही पर्याय है। यथा, वामन की मान्यता है कि **विकटत्वमुदारता**—विकटत्व अथवा पदप्रबन्ध की गाढ़ता उदार गुण है— **औज्ज्वल्यं कान्तिः**—पद रचना में उज्ज्वलता, सहजता कान्तिगुण है— ऐसे कथनों में कुन्तक द्वारा निरूपित वर्णविन्यास वक्रता का निदर्शन ही है। अर्थ गुणों में श्लेष गुण को घटना अथवा क्रिया चमत्कार कहा गया है। **क्रमकौटिल्वानुल्बणत्वोपपत्तियोगो घटना स श्लेषः**—क्रम, कौटिल्य, अनुल्वत्व और उपपत्ति का योग श्लेष है। उनमे कौटिल्य अथवा वक्रता का प्रयोजन अर्थचमत्कार उत्पन्न करना है। यद्यपि वामन ने अपने ग्रन्थ में चमत्कार बोधक कथन कें लिए वक्रोक्ति का प्रयोग नहीं किया है, तथापि यह निर्णीत है कि वक्रता के अनेक गुण शब्द और शब्दार्थ के गुण- विवेचन में समाविष्ट कर दिये गये हैं। विषय के उपस्थापन में शब्दावलि भिन्न है। वामन को वक्रोक्ति में निहित **लोकोत्तर चमत्कार** ग्राह्य है। उनके काव्य-सौन्दर्य विषयक मूल सूत्र **विशिष्टा पदरचना रीतिः**, में विशिष्टता वक्रोक्ति से एकान्त भिन्न नहीं है।

रुद्रट अलंकारवादी आचार्य थे। उन्होंने भामह, दण्डी और वामन द्वारा निरूपित वक्रोक्ति वैभव को अत्यधिक संकुचित कर दिया। उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति अलंकार ने सामान्य के पद से च्युत होकर अर्थ-संकोच के साथ वक्रोक्ति के अर्थ को संकीर्ण कर दिया। वक्रोक्ति की अर्थालंकारता भी उनके साथ छिन गई। वक्रोक्ति— **वक्र उक्ति अर्थात् वक्रीकृत् उक्ति** में सीमित हो गई। उसकी गणना शब्दालंकारों में होने लगी और शब्दालंकार के रूप में वक्रोक्ति के दो उपभेद काकु-वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए।[1]

---

१. रुद्रट, काव्यालङ्कार– २-१४

परवर्ती आलंकारिकों ने भी वक्रोक्ति को संकुचित अर्थ में ही लिया, किसी ने इसे शब्दालंकार माना, तो किसी ने अर्थालंकार एकमात्र **भोजराज** ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित सिद्धान्तों का उल्लेख कर वक्रोक्ति के चमत्कारमूल महत्त्व को स्वीकारा। किन्तु उन्होंने भणिति, गुम्फना आदि स्वतंत्र अलंकारों की कल्पना कर वक्रोक्ति की व्यापकता कम कर दी। काव्य के चिरन्तन और मूलभूत सिद्धान्त के रूप में वक्रोक्ति की स्थापना करने का श्रेय **आचार्य कुन्तक** को ही है। यह निर्विवाद है कि काव्यालोचन को लेकर कोई सार्वकालिक और सार्वदेशिक एकमात्र मानदंड संभव नहीं है। युग-चेतना की अभिव्यक्ति नित परिवर्तनशील स्वर के संग मूल्यन का मापदण्ड परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्र में भी काव्य-सौन्दर्य के प्रसंग में विभिन्न काव्यवाद प्रचलित हैं। किन्तु हमारी दृष्टि में काव्य सौन्दर्य विषयक चिन्तन में कुन्तक का वक्रोक्तिवाद सर्वाधिक युक्तिसंगत है। इसमें कवि के व्यक्तित्व के साथ अभिव्यक्तमूलक भाषिक घटकों की वक्रता या विशिष्टता का निरूपण हुआ है।

कुन्तक ने अपनी प्रखर प्रतिभा और समन्वय विधायिनी शक्ति से पूर्वाचार्यों की वक्रोक्ति मान्यता का शास्त्रीय उपवृहण किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को कवि-कौशल और काव्य-सौन्दर्य से अभिन्न मानकर काव्य-चिन्तन में एक युगान्तकारी विचार उपस्थित किया है। उनकी मान्यता है :

> **उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।**
> **वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥**[१]

वहीं वृत्ति में कारिका की व्याख्या की गई है।

उभौ द्वावप्येतौ शब्दार्थावलङ्करणीयौ केनापि शोभातिशयकारिणालङ्करणेन योजनीयौ। किं तत्तयोरलङ्करणमित्यभिधीयते—तयोः पुनरलङ्कृतिः। तयोर्द्वित्वसंख्याविशिष्टयोरप्यलङ्कृतिःपुनरेकैव यया द्वावप्यलङ्क्रियेते। कासौ?

---

१. कुन्तकः वक्रोक्ति जीवित— १-१०

वक्रोक्तिरेव। वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी ? वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत् शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तालङ्करणेन योज्येते, किन्तु वक्रता वैचित्र्ययोगितयाभिधानमात्रमेवानयोरलङ्कारः, तस्यैव शोभातिशयकारित्वात्॥

शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं। उन दोनों का अलंकार वक्रोक्ति है। काव्य में जो कुछ सुन्दर,चमत्कारपूर्ण अथवा अलंकृत है, वह वक्रता का चमत्कार है। इसके अन्तर्गत कुन्तक ने कवि-कौशल और काव्य-सौन्दर्य को समन्वित किया है। काव्य में तत्व और रूप के भेदभाव से काव्य-सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है।

आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त भारतीय काव्य-चिन्तन के अनुरूप शब्द और अर्थ दोनों के चमत्कार पर आधृत है। सौन्दर्य को वक्रनिष्ठ मान कर उन्होंने वस्तु-तत्त्व की प्रतिष्ठा की है, साथ ही, उसे रूप-गत भी माना है। इस प्रकार वक्रोक्तिवाद में काव्य सौन्दर्य का समन्वित स्थापन हुआ। वक्रता मूलतः वैदग्ध्य भंग भणिति है, जहां अलंकार्य और अलंकार का भेद नहीं रहता है। वैदग्ध्य-विदग्ध भाव है, जो कवि-प्रसूत है। वक्रता का मूलतः कवि-व्यापारजनित मानकर कुन्तक ने कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की है। एक तरफ स्वभाव रमणीय वस्तु का चयन काव्य में अपेक्षित है, दूसरी तरफ कवि-प्रतिभा के बल पर सौन्दर्य के उद्घाटन की मान्यता रखी गई है। उभय विध कवि की कुशलता देखी जाती है।

वक्रोक्ति काव्य-प्राण का सर्वाङ्गीण सत्यापन है। काव्य एक जीवित-शरीर है, जिसमें प्राण है, प्राणरक्षण और प्राण-स्पन्दन में शरीर के विभिन्न अंगों का निजी महत्त्व है। इसीलिए कुन्तक की मान्यता है कि जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर और स्फूर्ति के बिना जीवन निष्प्राण और व्यर्थ होता है, उसी प्रकार वक्रोक्ति के बिना काव्य निष्प्राण है।

प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।[1]
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥

फलतः वक्रोक्ति में वस्तुगत तथा रूपगत दोनों चमत्कार समाहित हैं । वर्ण से आरम्भ कर प्रबन्ध तक सभी काव्यघटकों में वक्रोक्ति को समाविष्ट किया गया है । कुन्तक के मतानुसार वक्रोक्ति के छः मौलिक भेद हैं—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्ध वक्रता अथवा प्रकृतिवक्रता, पदपरार्धवक्रता अथवा प्रत्यय वक्रता, वाक्यवक्रता । वर्ण, पद तथा वाक्य भाषिक घटक हैं, प्रकरण और प्रबन्ध काव्यविद्या के अन्तर्गत आते हैं । इन विभिन्न घटकों की चारुता को वक्रता में समाविस्त कर संतुलित और समन्वित स्थापना उपस्थित करना कुन्तक जैसे मेधावी विद्वान् से ही संभव है ।

प्रथम वक्रता कर्ण-वक्रता है । वर्ण भाषा की लघुतम इकाई है । वर्णों से ही पद, और पदों से वाक्य निर्मित होते हैं । वर्ण-नियोजन से शब्दों का निर्माण होता है, और उनके अर्थद्योतन में वर्णों का प्रभाव असंन्दिग्ध है । कवि की प्रतिभा के अनुरूप वर्ण-नियोजन होता है । कवि की सफलता इसी में है कि विषयानुरूप वर्ण-विन्यास हो । वर्णों के प्रयोग, गुण, मार्ग और वृत्ति के अनुकूल अपेक्षित हैं । कुन्तक की मान्यता है :

एकः द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः ।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ॥

वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्तल-नादयः ।
शिष्टाश्च यदि संयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ॥

क्वचिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना ।
सा स्वराणामसारूप्यात् परां पुष्णाति वक्रताम् ॥

---

१. कुन्तक : तत्रैव– २-३४

नाति निर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिताः ।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ।।

वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी ।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः ।।

समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम् ।
औचित्ययुक्तमाद्यादि नियतस्थानशोभि यत् ।।[१]

दूसरी वक्रता फ्दवक्रता है । पद एक या एकाधि वर्णों की संहति से बनते हैं । संस्कृत या अन्य प्रत्यय प्रधान भाषाओं में पद के दो अंग होते हैं । प्रथम पदपूर्वार्ध या प्रकृति और दूसरा पदपरार्ध अथवा प्रत्यय । पदपूर्वार्ध वक्रता के अन्तर्गत रूढ़ि, पर्याय, उपचार, विशेषण, संवृत्ति, वृत्ति, लिङ्ग और क्रिया के वैचित्र्य को लेकर आठ उपभेद आते हैं ।[२] इन आठ उपभेदों के अवान्तर भेद व्याकराणिक कोटियों के आधार पर उल्लिखित हैं । पद परार्धवक्रता में काल, कारक, वचन, पुरूष, उपग्रह या क्रिया पदप्रयोग और प्रत्यय- छः भेद होते हैं ।[३]

उपर्युक्त वर्णवक्रता और पदवक्रता भाषा की संरचना से संबद्ध हैं । प्रथम ध्वनि शास्त्रीय है, और दूसरी व्याकरणिक । यह भाषिक तथ्य है कि वक्ता अभिव्यक्ति के स्वरूप और उद्देश्य के अनुरूप भाषिक विकल्पों में चयन करता है । चयन की सुप्रयुंक्ता में ही भाषिक चमत्कार उत्पन्न होता है । काव्य की भाषा भावोत्प्रेरक होती है । अतः इसमें भावानुकूल वर्ण-विन्यास और पद-चयन की विशिष्टता वक्रता है । यह कविकर्म की कुशलता पर ही निर्भर है ।

वर्णवक्रता और पदवक्रता के बाद वाक्यवक्रता आती है । वर्ण और पद का महत्त्व व्यावहारिक और बहुत कुछ आकारिक है, किन्तु भाषिक अभिव्यक्ति की समग्रता वाक्य में ही होती है । शब्द एकाकी नहीं होते हैं । उनकी शक्ति समुदाय

---

१. कुन्तक : तत्रैव– २–१ से ६

२. कुन्तक : तत्रैव– २-८ से २५

३. कुन्तक : तत्रैव– २-२६ से ३३

या वाक्य में ही निहित होती है । अत: काव्यार्थ ग्रहण में वाक्य अथवा कथ्य का महत्व भाव-सम्प्रेषण के लिए सर्वोपरि है ।

आचार्य कुन्तक ने वाक्य-वक्रता का निरूपण शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य लेकर किया है । उनका विवेचन काव्य में कथ्य या वस्तु के आधार पर हुआ है । अत: वाक्य, वाच्य अथवा वस्तु यहाँ समानार्थक हैं । आचार्य की कारिका है :

उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम् ।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता ॥[१]

उत्कृष्ट, सहज रूप से सौन्दर्य से युक्त, चमत्कारपूर्ण शब्दों द्वारा वस्तुवर्णन अथवा वाच्यार्थ निरूपण की वक्रता वस्तु वक्रता है । वस्तुत: कवि अधिक समय वर्णनीय वस्तु का उत्पादक नहीं होता है, किन्तु लोक में पूर्व विद्यमान पदार्थों के वर्णन में वह एक प्रकार की विशेषता उत्पन्न करता है जो सहृदयहारी तथा अलौकिक रमणीयता की सृष्टि करता है ।

यन्न वर्ण्यमानस्वरूपा: पदार्था:कविभिरभूता: सन्त: क्रियन्ते, केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां तेषां तथाविध: कोऽप्यतिशय: पुनराधीयते, येन कामपि सहृदय-हृदयहारिणीं रमणीयतामधिरोप्यन्ते ।[२]

सहज और आहार्य भेद से वाक्य वक्रता के दो भेद होते हैं । सहज में वस्तु का सहज सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन होता है । आहार्य में कविप्रतिभा और कविकर्म से वस्तु विशिष्ट आकर्षक रूप में अभिव्यक्त होती है ।

अपरा सहजाहार्यकविकौशलशालिनी ।
निर्मितिर्नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा ॥[३]

---

१. कुन्तक: वक्रोक्ति जीवित– ३-१

२. कुन्तक : वहीं– ३-२ की वृत्ति

३. कुन्तक : तत्रैव– ३-२

आहार्य वक्रता के लिए कुन्तक का विशेष आग्रह है, क्योंकि भाषा की अलंकृति अलंकृत शैली में देखी जाती है । जहां चमत्कार पूर्ण कथन अधिक प्रभावी होता है । इसी कोटि की वक्रता में अलंकारों का समावेश किया गया है ।

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्त्रधा ।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥[१]

साथ ही सहज अथवा स्वभावोक्ति मूलक-कथन में भी वक्रता के कारण आकर्षण स्वीकार्य है ।

प्रकरणवक्रता प्रकरण में निहित है । कोई भी वस्तु प्रकरण-विशेष में व्यक्त होती है । वाक्यों को अन्विति-क्रम में रखने से ही वक्तव्य में चारुता उत्पन्न होती है । सहज अथवा आहार्य जब वाक्य-समुदाय में प्रकरणगत वक्रता की सृष्टि करता है, तब उसे प्रकरण-वक्रता कहते हैं । काव्य-प्रबन्ध के एक विशेष प्रकरण में तथाविध वक्रता कहीं भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना से, कहीं उत्पाद्‌य लावण्य से, कहीं प्रधान कार्य में संबद्ध प्रकरणों में उपकार्य-उपकारक भाव से, कहीं विशिष्ट प्रकरण के अतिरंजन से, कहीं जलक्रीड़ा, लोकोत्सव, प्रात: सान्ध्य वर्णन, सूर्योदय-चन्द्रोदय अथवा ऋतु के रोचक प्रसंग के रोचक वर्णन से, कहीं उद्देश्य की सिद्धि के लिए अप्रधान प्रसंग के उद्‌भावना से, कहीं गर्भाङ्क विधान से, कहीं प्रकरणों के पूर्वापर अन्विति-विधान में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहिति सन्धियों के सम्यक् नियोजन से उत्पन्न होती है । प्रकरण-वक्रता से वर्णनीय वस्तु की अभि-व्यक्ति में आकर्षण आ जाता है ।[२]

अन्तिम वक्रता प्रबन्ध वक्रता है । यह समग्र काव्य विधान के रूप और प्रभाव में उत्पन्न होती है । भारतीय काव्य शास्त्र में प्रबन्ध काव्य को श्रेष्ठ कहा गया है । नाट्‌य भी प्रबन्ध में आता है । रामायण और महाभारत की प्रबन्धात्मका कवियों के लिए आदर्श स्वरूप है । अत: प्रबन्ध वक्रता में महाकवि की मौलिकता तो श्लाघ्य

---

१. कुन्तक : तत्रैव– १-२०

२. कुन्तक : तत्रैव– ४–१ से १५

है, किन्तु उसकी कविकर्मकुशलता रामायण और महाभारत से प्रेरित हो कर नवीन सृष्टि में मानी गई है। अत: प्रबन्धवक्रता के परिचय के लिए कुन्तक के शब्द हैं :

इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदुपेक्षया।
रसान्तरेण रम्येन यत्र निर्वहणं भवेत्॥

तस्या एव कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः।
विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता॥[१]

महाकाव्य, नाटक आदि प्रबन्धों में रामायण तथा महाभारत में वर्णित प्रसिद्ध रस-सम्पत्ति की उपेक्षा कर रमणीय रस तथा रूप की सौन्दर्य सृष्टि का प्रबन्ध वक्रता कही गई है। कवि की मौलिकता नव-सृजन में देखी जाती है। मूलरस-परिवर्तन, कथा-,मापन, कथा-विच्छेद, आनुषंगिक फल, नामकरण, तथा कथा-साम्य लेकर प्रकरण वक्रता के छः रूप वर्णित हैं। किसी भी काव्य-कृति का आकर्षण उसके समग्र प्रभाव को लेकर होता है। वक्रता के उत्पादन अथवा काव्य-सौन्दर्य की निर्मिति में उपर्युक्त छः भेद प्रधान हैं। इनमें से प्रत्येक वक्रता अपने आप काव्य-सौन्दर्य में सौन्दर्य के उत्कर्ष का कारण हो सकती है, किन्तु एकाधिक वक्रताओं का सहावस्थान विशिष्ट काव्य सौन्दर्य को उत्पन्न करती है। जिस प्रकार प्रतिभा की अनन्तता है, उसी प्रकार कवि-प्रतिभा से उत्पन्न वक्रताओं की अनन्तता है। आचार्य कुन्तक को यह तथ्य मान्य है। अत: उन्होंने स्वयं वक्रता-भेद निरूपक कारिका की वृत्ति में कहा—

एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः। शिष्टाश्च सहस्रशः संभवन्तीति महाकविप्रवाहे सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयाः।[२]

स्पष्ट है कि कुन्तक ने वक्रोक्ति का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। यहाँ वक्रता काव्यसौन्दर्य का पर्याय है। काव्य में उसकी योजना लोकोत्तर

---

१. कुन्तक : तत्रैव– ४–१६–१७

२. कुन्तक : तत्रैव– १-१४ की वृत्ति

चमत्कार और वैचित्र्य की सिद्धि के लिए होती है । **कुन्तक** ने ग्रन्थारम्भ में अपनी मान्यता रखी है :

> **लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।**
> **काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥**[१]

कुन्तक भाषा-मर्मज्ञ थे । भाषा के विभिन्न घटकों में निहित शाक्तियों से परिचित थे । अतः उन्होंने अपने काव्यवाद के स्थापन में लघुतम ऐकक स्वनिम से लेकर महत्तम रूप वाक्य तक के भाषिक उपादानों की काव्यनिष्ठता मानी ।

कुन्तक में समन्वयविधायिनी शक्ति भी थी । उन्होंने न रसवाद का खण्डन किया, न सामयिक ध्वनि-सिद्धान्त का ही विरोध किया । काव्यानन्द को अलौकिक और चमत्कार स्वरूप मान कर भी उन्होंने किसी आध्यात्मवाद की शरण नहीं ली । चिर-प्रतिष्ठित **शब्दार्थौ काव्यम्** काव्य-मान्यता में अपनी वक्रोक्ति के संस्पर्श से उन्होंने काव्य सौन्दर्य का सार्वकालिक व्याख्यान किया । शब्द और अर्थ काव्य के अलंकार्य हैं, तो उन अलंकार्यों की अलंकृति है वक्रोक्ति । यह वक्रोक्ति भावगत और रूपगत दोनों सौन्दर्य है ।

यह भाषिक तथ्य सर्वमान्य है कि भाषा भाव को व्यक्त करती है । भाषा में तथ्य और तथ्याभिव्यक्ति दोनों का समान रूप से महत्त्व है । कांव्य की भाषा विशिष्ट होती है और विशिष्टता भाषा और भाव के चमत्कार से आती है । यह चमत्कार अथवा काव्य-सौन्दर्य वक्रोक्ति में उत्पन्न होता है । ऐसी भाषिक मान्यता ही कुन्तक का वक्रोक्तिवाद है ।

आचार्य **कुन्तक** अलंकारवादी नहीं हैं । उनकी दृष्टि में काव्य-सौन्दर्य के विधान में अलंकार और अलंकार्य दोनों एक ही है । वक्रता सहज भी है और आहार्य भी । सौन्दर्य को वक्रनिष्ठ मान कर कुन्तक ने वस्तु या भावगत वक्रता और रूप

---

१. कुन्तक : तत्रैव– १-२

वक्रता दोनों को समान महत्त्व देकर जिस सौन्दर्यवाद की स्थापना की है, उसमें काव्य और काव्य-कर्ता कवि दोनों का समान रूप से स्तवन है। ग्रन्थ के आदि मंगलश्लोक में काव्य—वाग्देवी की स्तुति में कुन्तक का भावोद्गार द्रष्टव्य है:

वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम्।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्॥

• • •

षष्ठ अध्याय

काव्य का भाषिक निरूपण

पिछले अध्यायों के अध्ययन से स्पष्ट है कि काव्यभाषा एक विशिष्ट भाषा है। उसकी विशिष्टता भावगत है, साथ ही रूपगत भी। काव्य-भाषा एक प्रभावी प्रतीक है। भाषा संकेत ही है, किन्तु संकेतों के ग्रहण और नियोजन की व्यवस्था उसमें रहती है। काव्य एक ऐसा प्रतीक है जहाँ भाषागत उपकरण सौन्दर्यमूलक भाव की अभिव्यक्ति के साधक हैं।

भाषा प्रतीकीकरण ही होती है। सर्वोपरि काव्य, क्योंकि भावोच्छ्वास का शाब्दिक प्रतीकीकरण भाषा में होता है। शब्द भावद्योतन के प्रतीक मात्र हैं। ये ध्वन्यात्मक और अर्थबद्ध होते हैं।

यह मान्य है कि भाषा के अधिकांश शब्द **प्रच्छन्न रूपक**—*फेडेड मेटाफर*-होते हैं, क्योंकि ये अधिकांशत: अनुकरण अथवा रूप-विधान के आधार पर ही निर्मित होते हैं, अर्थ-प्रतीति में भाव-सादृश्य के चलते ही शब्द-प्रतीकों द्वारा व्यक्त होते हैं। दो समान वस्तुओं के समान परिवेश में साहचर्य की उपस्थिति से एक शब्द स्वत: एकाधिक अर्थों को प्रकट करता है। परिणामत: शब्द श्लिष्ट बन जाता है। प्रतीकीकरण में श्लिष्टता स्वाभाविक होती है। दृष्टान्तस्वरूप यहां प्रसिद्ध भाषाशास्त्री पिअर गिरोद द्वारा उल्लिखित अर्थ परिवर्तन की मान्यता उपस्थित की जा सकती है। फ्रेंच भाषा में तेत का मूलार्थ प्रधान पुरुष अथवा मुखिया था। तत्पश्चात् इसका अर्थ-संक्रमण मिट्टी के पात्र में हुआ, क्योंकि दोनों में सादृश्य था। पुन: सादृश्यमूलक लक्षणा के आधार पर मस्तक अथवा शिर के अर्थ में इसका प्रयोग होने लगा है।[१]

---

१. पिअर गिरोद : ला सेमान्तिक– पृ० ३४

उपर्युक्त अर्थ-प्रक्रिया रूपकात्मक है। रूपकाभिधान में दो वस्तुओं के बिम्बों को सादृश्य के आधार पर एक साथ ही प्रस्तुत किया जाता है। जहाँ साम्य के चलते किसी वस्तु को अन्य वस्तु के अभिधान से निर्दिष्ट किया जाता है, वहीं रूपकाभिधान है। विशेष परिवेश में विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति के लिए शब्द का मूलार्थ अपने आप में समर्थ नहीं होता है। भाव के स्वनिष्ठ वैशिष्ट्य का अभिधान समानान्तर भाव-प्रतीक के सह-प्रयोग अथवा एकान्तिक प्रयोग में होने पर और भी दीप्त और आकर्षक हो जाता है। इस प्रकार शब्द के दो अर्थ होते हैं, मूल और परिधीय अथवा रूपकात्मक।

काव्य रूपकात्मक है, क्योंकि उसकी भाषा का आधार रूप-विधान है। किसी भी भाषा के काव्य को हम ग्रहण करें और उसमें प्राप्त रूपकों को निकाल दें, तो वह काव्य नीरस और निष्प्राण हो जाएगा। इसका मूल कारण है कि सादृश्य विधान मानव की मूल प्रवृत्ति होती है। सि० एस० लिविस की धारणा है कि मानव चिन्तन सम्पूर्णतः रूपक से ही अनुकूलित है। हमें किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक हम उस वस्तु को उसकी सदृशता में न देखें।[१] काव्य की भाषा भावोत्प्रेरक होती है, भाव अमूर्तता बिम्बरूपों में ही रूपायित होती है।

सादृश्य विधान मानव की सौन्दर्यमयी चेतना में पारिभासित है। वहाँ एक अखण्ड-व्यापार के रूप में मौलिक बिम्ब का अर्थग्रहण होता है। वह भाव-तीव्रता के लिए होता है। भाषिक अभिव्यक्ति वह केवल बाह्य रूप नहीं है, अर्थ-साहचर्य से वह भाषा का प्राण तत्त्व है।

इसीलिए भारतीय आलंकारिकों ने सादृश्य मूलक अलंकारों में उपमा को शिरोमणि माना है। राजशेखर ने उपमा को अंलकारों में मूर्धाभिषिक्त काव्य के सर्वस्व और कविवंश की माता के रूप में लिया है:

---

१. सि० एस० लिविसः इम्पौर्टेन्स आफ लैंग्वेज—पृ० ४२

अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥[१]

भारतीय चिन्तन के मूल साहित्य, ग्रन्थ वेद में भी अलंकारों में उपमा की अधिकता है। हमारे आदिकाव्य वेद में उषा, सूर्य, अग्नि, पवन आदि देवताओं के काव्यात्मक रूप मन्त्रों में प्रयुक्त उपमा-बाहुल्य यह प्रमाणित करता है कि वस्तु के सौन्दर्य से प्रभावित होकर मानव एक सुन्दर वस्तु की तुलना किसी अन्य सर्वविदित और सौन्दर्यादि प्रभाव वाले पदार्थ से करता है।

इस प्रकार के उपमानोपमेय भाव से बिम्ब-विधान दो रूपों से होता है। सदृश वस्तुओं के सन्निधान और अन्तर्धान से भाव की उद्दीप्ति होती है। वक्तव्य में उससे रमणीयता उत्पन्न होती है। इस प्रकार इसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का चमत्कार है।

सादृश्य विधान में उपमान और उपमेय की भेद और अभेद की दो स्थितियों को लेकर दो रूप प्राप्त होते हैं। एक में भेद स्थापना है, जिसे उपमा कहते हैं। दूसरे में अभेद की स्थापना रहती है, उसे रूपक कहते हैं। इस प्रकार एक विश्लिष्ट रूप है, तो दूसरा संश्लिष्ट।

मुख कमल जैसा सुन्दर है : **मुखं कमलमिव सुन्दरम्** : वाक्य विशिष्ट उक्तिभंगी का एक रूप है। मुख-कमल, अथवा मुख रूपी कमल—**मुखं कमल-मस्ति**—दूसरा रूप है। मुख कमल जैसा सुन्दर प्रयोग में मुख और कमल का भेद और सौन्दर्य दृष्टि से दोनों में अभेद ज्ञापित है। मुख रूपी कमल—मुखकमल में दोनों में अभेद स्थापन है,क्योंकि मुख पर कमल का आरोप होने से अभेद की प्रतीति है। मुख और कमल के सौन्दर्य का साम्य दो भिन्न भंगिमाओं से सूचित किया जाता है। दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों से प्रस्तुत की प्रभाव-वृद्धि प्रकारान्तरों से अप्रस्तुत द्वारा होती है, दोनों प्रयोगों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का साम्य दिखाकर अर्थग्रहण में प्रभाव वृद्धि है। अन्तर स्वरूप-नियोजन में है, क्योंकि उपमा में साम्य वाच्य है, जबकि रूपक में वह व्यंग्य है।

---

१. केशव मिश्र : अलङ्कारशेखर में उद्धृत– पृ० ३२

काव्य की भाषा रूपात्मक होती है। बहुधा कहा गया है कि काव्य की भाषा भावोत्प्रेरक होती है। काव्य में भाव की अमूर्तता बिम्ब रूपों में ही रूपायित होती है। काव्य में कवि जिस वस्तु का वर्णन प्रस्तुत करता है, उस वस्तु का वर्णन करना ही उनका लक्ष्य नहीं होता, बल्कि वह अपने चमत्कारपूर्ण वर्णन के माध्यम से प्रतीयमान किसी अन्य वस्तु का वर्णन करता है। प्रतीयमान अर्थ वस्तुतः रूपकात्मक अभिधान से प्राप्त होता है।

कल्पना और भाव में अपरिच्छेद सम्बन्ध है। कल्पना का मुख्य कार्य विभिन्न वस्तुओं और भावों में प्राप्त ऐक्य का दर्शन करना है। कल्पना की शक्ति भी अप्रतिम है। जैसा कि अंग्रेजी कवि और आलोचक **कोलरिज** ने अपने ग्रन्थ **बायोग्राफिया लिटरेरिआ** में कहा : **कल्पना दो भिन्नों को मिलाती है, विशिष्ट करती है, परिवर्त्तित करती है, संगृहीत करती है, संस्मृत करती है, साथ ही, संयुक्त करती है।**[१] काव्य में भाव रूपायण की सिद्धि भी कल्पना प्रधान बिम्बविधान में है। कल्पना में सर्जनात्मक शक्ति है, वह ऐसी शक्ति है, जो मानस-पटल पर भाव चित्रों का रूप निर्माण करती है।

भाषा में उपमान कल्पना-प्रसूत ही हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र में उपमान को प्रमा तत्त्वज्ञान का प्रमुख साधन माना गया है। व्याकरणशास्त्र में ज्ञान के साधन के रूप में उपमान का निरूपण हुआ है। भाषा शास्त्र में शब्दार्थग्रहण में भाषा-रूप द्वारा उसकी स्वीकृति है।

अर्थोन्मेष में उपमान के महत्त्व को लेकर जगद्विख्यात फ्रांसीसी भाषाशास्त्री **पॉल रिकअ** का प्रसिद्ध ग्रन्थ **ला मेटाफोर भिभ—जीवन्त उपमान** नाम से ई० १९७३ में प्रकाशित है। इसका अंग्रेजी रूपान्तरण **द रूल ऑफ मेटाफर—मल्टी डिसिप्लिनरी स्टडिज इन द क्रियेशन ऑफ मिनिंग इन लैंग्वेज,** (लन्दन, १९८१, कैम्ब्रिज यूनीवरसीटी प्रेस, १९८१), अनुवादक आ जेर्नी, रूतलेज तथा रेगन पॉल) नाम से प्रकाशित है। जीवन्त उपमान में उपमान की भाषिक विशिष्टताएँ निरूपित

---

१. कोलरिजः बायोग्राफिया लिटरेरिआ—पृ० १५४

हैं। ग्रन्थकार के मतानुसार रचना का नामकरण इसलिए उपयुक्त है। इससे इन्होंने निरूपित किया है कि केवल ज्ञान-मीमांसा तथा राजनीति लेकर ही कल्पना नहीं है, किन्तु, साथ ही उन दोनों की अपेक्षा अधिक मौलिक रूप में, भाषिक कल्पना है जो उपमान की जीवन्त शक्ति लेकर अर्थ को उत्पादित और पुनरुत्पादित करती है। जीवन्त उपमान में भाषा और काव्यशास्त्र के साधनों का अनुसन्धान है, जिससे स्पष्ट हैं कि उपमान के चलते भाषा में सर्जनात्मक उत्परिवर्तन और रूपान्तरण होते रहते हैं।[१] वहाँ मान्य विद्वान् की स्थापनाएँ काव्यभाषा को लेकर रखी गई हैं। आधुनिक ज्ञान-विस्तार और ज्ञान-वैविध्य के चलते भाषा की समरूपता विनष्ट हो गई है। भाषा के विश्लेषणमूल्य दर्शन के अनुसार सामान्य भाषा सम्प्रेषण में तथ्य और सत्यापन की भाषा से विभिन्न हो गई है। वैज्ञानिक भाषा में सम्प्रेषण अथवा परस्पर वैयक्तिक संवाद संभव नहीं हैं। अत: यह आवश्यक है कि सामान्य भाषा की स्वनिष्ठता की रक्षा हो, जहाँ अनुभवों के सम्प्रेषण को प्राथमिक महत्त्व दिया जाये, किन्तु सामान्य भाषा दर्शन भी इसलिए चिन्त्य हो गया कि इसमें ऐसा प्रावधान नहीं है कि भाषा स्वत: पूर्वग्रह और प्रवृत्ति का विषय हो। अत: हमें भाषा के तृतीय आयाम की आवश्यकता है, एक ऐसा आयाम जो आलोचनात्मक और सर्जनात्मक हो। जो न तो वैज्ञानिक सत्यापन की ओर प्रवृत्त है और न सामान्य भाषा के सम्प्रेषण की ओर। यह सम्भाव्य जगतों के प्रकाशन को निर्दिष्ट करता है। इसी तृतीय आयाम को भाषाशास्त्री ने काव्यभाषा की संज्ञा दी है। यहाँ मानव का आत्मज्ञान संभाव्य के प्रकाशन-स्वरूप भाषा के तृतीय आयाम पर निर्भर है।[२]

सम्भाव्य की यह प्रकल्पना भाषा की प्रतीकीकरण-प्रक्रिया से व्याख्येय है। काव्य में प्रतीकों का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता आया है। किन्तु काव्यवाद के रूप में इसका प्रचालन फ्रांस में हुआ है। उन्नीवसीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रांसीसी कवि बोदलेअर हुए जिन्हें प्रतीकवाद का प्रवर्तक माना जाता है। पॉल रिकअ

---

१. पॉल रिकअ : द क्रिएटिविटी ऑफ लैंग्वेल– पृ० २१८, साक्षात्कार निबन्ध, स्टेट्स ऑफ माइण्ड से उद्धृत

२. पाल रिकअ : वहीं पृ० २४३-२४४

की उपर्युक्त भाषिक मान्यता का आधार यही प्रतीकवाद है। अतः यहाँ फ्रांसीसी प्रतीकवाद की चर्चा संक्षेप में अपेक्षित है।

प्रतीकवाद का मूल सिद्धान्त **कोरेस्पोदांस**— अनुरूपता पर प्रतिष्ठित है। प्रतीकवाद के उन्नायक फ्राँसीसी कवि **बोदलेअर** का कविता-संग्रह **फ्लअ द माल—पाप का पुष्प** ई० १९५७ में प्रकाशित हुआ। इसकी प्रसिद्ध कविता **कौरेसेपोटांस**—अनुरूपता है। कवि की दृष्टि में प्रकृति एक मन्दिर है जहाँ जीवित स्तम्भों से अस्पष्ट वाणी निस्सृत होती रहती है। वह रात जैसी शान्त है और उसमें सुस्पष्टता भी है, जहाँ गन्ध, रंग और ध्वनि स्वतः प्रतिष्ठित हैं।

ला नैत्यु एतं ताम्प्ल उल भिभां पिलिए
लैस्स फारफ्वा सोति दकँ कंफुज पैरोल।

भास्त कम्म ला न्वी कम्म ला क्लारिते
ले पारफें, लेकुलअ, ए ले सों स रेपोंद॥

कवि की दृष्टि में प्रकृति के उपादान आध्यात्मिक और भाषिक तथ्यों के प्रतीक हैं। इस रहस्यमय तारतम्य के अनुसन्धान में कवि को ध्यानावस्थित होकर अन्तश्चक्षु की प्रकाशक्रिया का आश्रय लेना आवश्यक है। आन्तरिक शक्ति के उन्मीलन के लिए काव्य की संगीतमयी वाणी का आश्रय भी अपेक्षित है। एतदर्थ ज्ञानेन्द्रियों के परम्परा को परिचित पन्थ से हटाकर नवीनता की ओर अग्रसर होने का आग्रह है। अतः दृष्टि घ्राणेन्द्रिय अथवा स्पर्शेन्द्रिय पर कर स्वप्निल अवस्था को ज्ञात अथवा अज्ञात भाव से उद्दीप्त करना प्रतीकवादी कवियों का मुख्य कर्तव्य है। इसके लिए शब्द की परम्परागत अभिधा शक्ति को निर्मूल कर उपर्युक्त प्रतीकों में शब्द का नवीनीकरण आवश्यक है। शब्द-प्रतीकों में अर्थध्वनि की सूक्ष्म तरंगें विद्यमान रहती हैं, जहां काव्य का सुगठित रूप नवीन आध्यात्मिकता के अनुभव का एकमात्र साधन है[१]। प्रतीकवादी कवियों के लिए सामान्य शब्द

१. गी मिशादः मिसेज पोएतिक द्यु-सिम्बोलिज्म— पृ० ३२

प्रतीक ही पर्याप्त नहीं हैं। विज्ञान, मिथक, दर्शन, तन्त्रशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विविध शास्त्रों के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रतीकार्थ अपेक्षित है। जिससे आत्मिक अकथनीय विचार एवं भाव की अभिव्यक्ति संभव होती है।

परंतु प्रतीकबद्ध भाषाशैली में काव्य को सीमित कर देने से काव्य-भाषा की विशिष्टता नष्ट हो जाती है। सामान्य भाषा की तरह सम्प्रेषण, विशेषतःभाव-सम्प्रेषण, काव्य-भाषा का साध्य है। काव्य कवि का आत्म-प्रकाशन है, साथ ही, वह सामाजिक सम्पर्क का साधन भी है, यह केवल सम्प्रेषक-शब्द प्रतीकों के प्रयोग से संभव नहीं है। कवि भी सामाजिक प्राणी है। वह अपने समुदाय की सामाजिक, सांस्कृतिक और दैनन्दिन अनुभवों का प्रकाशन अपनी काव्य-कृति में करता है। इस द्विमुखी सम्बन्ध व्यवस्था का मूलाधार सम्प्रेषण ही है, जैसा सामान्य भाषा में प्राप्त होता है।

आधुनिक समीक्षक **आइ० ए० रिचर्ड्स** ने आधुनिक अर्थ विज्ञान और मनौविज्ञान के आधार पर सम्प्रेषण-सिद्धान्त का पोषण किया है। उन्होंने व्यावहारिक समीक्षण की सरणि अपनाकर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **प्रिन्सिपल ऑफ लिट्ररी क्रिटिसिज्म—साहित्यालोचन के सिद्धान्त** नामक ग्रन्थ में काव्य और काव्य-भाषा की विशिष्टता का स्वरूप सम्प्रेषण लेकर ही स्थापित किया है।

साहित्यालोचन के सिद्धान्त ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में लेखक ने काव्यगत सौन्दर्य एवं मूल्य से संबद्ध प्राचीन मान्यता का खण्डन कर सर्वमान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके मतानुसार काव्य सौन्दर्य मनोविज्ञान से पृथक् नहीं है, काव्यानुभव और वास्तविक जीवनानुभव दो भिन्न अनुभव नहीं है। अन्तर-केवल गहनता और परिमाण को लेकर है, प्रकार लेकर नहीं। उनकी मूल धारणा बनी है कि विज्ञान के वर्तमान असांस्कृतिक वातावरण में काव्य ही व्यक्ति और समाज को त्राण प्रदान कर सकता है।

एतदर्थ **रिचर्ड्स** का विशेष आग्रह काव्य के प्रभाव को लेकर है। काव्य-साहित्य अनुभवों का ऐसा भण्डार है जिसे सहृदय और विवेकी व्यक्तियों ने संचित किया है और जिसे सर्वोचित रूप में शब्दबद्ध कर जन-सम्प्रेष्य किया है।

अतः उनकी दृष्टि में काव्य-कृति एक माध्यम है जहाँ पाठक अथवा श्रोता के लाभार्थ कवि के संतुलित मनोभावों का सम्प्रेषण होता है। श्रोता या पाठक अपनी कला-साधना द्वारा तद्वद् मनोदशा को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त सम्प्रेषण के लिए काव्य में उपर्युक्त भाषा की आवश्यकता होती है, जो सामान्य भाषा का विशिष्ट रुप है और विज्ञान की भाषा से भिन्न है। **भाषा के प्रयोग मुख्यतः दो प्रकारों के होते हैं—एक निर्देश परक और दूसरा भावपरक।** विज्ञान की भाषा में शब्द मात्र अर्थवाहक होता है और सुस्पष्टता और तथ्य.-सत्यापन उसका विशेष गुण होता है। शब्द प्रयोग में बौद्धिक तथ्य का निरूपण होता है। वैज्ञानिक तटस्थ भाव से शब्द का प्रयोग करते हैं, जहाँ उनके मनोभाव अथवा मनोदशा का प्रभाव शब्द पर नहीं होता। दूसरी ओर काव्य-भाषा भावपरक होती है, जहाँ शब्द अभिधेतर शब्दशक्तियों से परिपूर्ण रहता है, उसमें रूपकादि अलंकारों का बाहुल्य प्राप्त है। विज्ञान में सूचना है, निर्देश है, जबकि काव्य में संवाद है, प्रभाव है। काव्य भाषा सामान्य भाषा का अलंकरण है जहाँ अभिधा, लक्षणा, रूपकादि का प्रयोग अलंकरण के लिए नहीं होता, अपितु अर्थद्योतन में प्रभाव के घनत्व के लिए होता है। इस घनत्व में मनोभाव का स्थापन होता है, जहाँ शब्दों की निर्देशमूलकता गौण हो जाती है। भाव-सम्प्रेषण के लिए उसमें काव्यार्थ की विशदता और अनेकता की सृष्टि होती है। यह भाषिक दोष नहीं है, अपि तु काव्यगुण का द्योतक है। वस्तुतः कविकर्म मनोभाव अथवा भाव की तथाविध अभिव्यञ्जना करना है जिससे पाठक अथवा श्रोता में समान मनःस्थिति उत्पन्न होती है। एतदर्थ कवि भावोत्प्रेरक शब्दों का प्रयोग करता है। काव्य का प्रकार्य पाठक और कवि के बीच तादात्म्य-स्थापन है। अतः काव्य की भाव परक भाषा प्रयोग में रागात्मक सम्बन्ध का परिपोषण करती है।

स्पष्टतः काव्य-भाषा में मानवीय मनुष्य काव्य की सामग्री है और भाषा उसका माध्यम है। काव्यभाषा का आकर्षण उसके भाव को लेकर होता है। इसलिए उसमें अर्थध्वनि होती है। **रिचर्ड्स के अनुसार अर्थ के चार घटक हैं कोशविहित अर्थशक्ति (सेन्स) , भाव (फिंलिग) , अभिप्राय (इन्टेन्शन)**

और ध्वनि (टोन) । काव्य भाषा में इन चारों घटकों के प्रयाग से अर्थध्वनि निस्सीम होती है । काव्य भाषा के चतुरङ्गी अर्थ को हम सन्दर्भार्थ भी कह सकते हैं, कारण यहाँ शब्द का मुख्यार्थ, कवि का मनोभाव, स्वर-भंगिमा और काव्य प्रयोजन अर्थात् काव्यत्व सब सन्दर्भगत होते हैं । वस्तुतः काव्य में सम्पूर्ण कथनी का समग्र अर्थ उद्‌भूत सम्भावनाओं की पारस्परिक क्रिया से प्राप्य है ।[१] परवर्ती काल में **रिचर्ड्स्** के प्रभाववादी काव्यालोचन का खण्डन **एम्पसन** और **वारेन** ने किया है । उन दोनों की दृष्टियों में कविकर्म विषयानुकूल बौद्धिक वातावरण का सृजन करना है । विज्ञान की प्रगति आधुनिक युग में अप्रत्याशित एवं द्रुतगामी सिद्ध हुई, जिससे काव्य में नित नवीन भावों को आत्मसातीकरण आवश्यक हो गया है । वस्तुतः आधुनिक युग में विज्ञान और काव्य का परस्पर विरोधी मानना संगत नहीं है । इसी प्रकार वर्तमान काव्यालोचक **पॉल गिनेस्टर** ने अपने ग्रन्थ **ल पोएत ए ला मेशिन—कवि और यन्त्र** में आधुनिक काव्य को यन्त्र काव्य की संज्ञा देकर-काव्य में वर्णित भावों को युगानुरूप यन्त्रवत् अनुचालित माना है । **मानव मिट्टी और मेशिन** के आधुनिक जगत् को वर्तमान विज्ञान युग ने प्रभावित किया है । संघर्ष, विरोध और शोषण विरोधी शक्तियों की प्रतिगामी धारा में सामञ्जस्य और समन्वय के स्वर सन्धान में नव्य काव्य की सार्थकता है । एतदर्थ उनकी धारणा बनी है कि जो भी प्रकाश जीवन पर विकीर्ण होता है, वह साहित्य पर विकीर्ण होता है । अतः प्राचीन परिभाषा को मूल बिन्दु बनाकर काव्य और काव्यभाषा के लिए नवसूत्र दिया है जहाँ प्रतीकीरण मूलाधार है । इस प्रकार—

भाषा = प्रतीकों का पौर्वापर्य विधदान अथवा अनुक्रम

साहित्य (काव्य) = भाषा प्रकृष्ट रूप

प्रतीक और उसके स्रोत पर जो भी प्रकाश डालता है वह साहित्य पर भी प्रकाश विखेरता है ।[२]

---

१. रिचर्ड्स : फिलोसफी ऑफ रेटोरिक्स– पृ० ५५

२. पॉल गिनेस्टर : द पोएट एण्ड द मेशिन (अंग० अनु० मार्टिन बि० फ्रिडमैन), पृ० ४

प्रासंगिक रूप में यह कहना संगत है कि काव्य के भाषिक संकेतों में विशिष्ट अर्थ नियोजन से काव्य की मूल्यात्मकता स्वनिष्ठ है। काव्य भाषा में उपलब्ध वास्तविक और सम्भावित अनेकार्थता उसका अपकर्षण नहीं, उससे भाव सम्प्रेषण में चमत्कार या आकर्षण ही होता है।

यहाँ यह भी स्वीकार्य है कि काव्य में सफल अभिव्यक्ति के लिए भाषा का महत्त्व उतना ही है जितना काव्य के भाव अथवा सन्देश का। भाषिक संरचना से ही साहित्यिक अथवा भावगत संरचना रूपायित होती है। काव्य-सौन्दर्य के लिए भाषा के सभी विश्लेषकों में सौन्दर्य अपेक्षित है। ध्वनिक (लय, छन्द, स्वर सामञ्जस्य) शब्दगत (शब्द चयन और शब्द-निर्माण) और वाक्य गत (समन्वित अर्थ) सभी घटकों में सावयव अन्विति रहने से ही काव्यात्मक चमत्कार उत्पन्न हो सकता है। सारांश, काव्य में भावात्मक अभिव्यञ्जना काव्य की भाषा होती है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य भाषा एक विशिष्ट भाषा है जिसमें सामान्य भाषा की विशिष्टताएँ प्राप्त होती हैं।साथ ही शास्त्र भाषा की विशिष्टताएँ। सामान्य भाषा की तुलना में वैज्ञानिक भाषा से काव्य भाषा का अन्तर सुस्पष्ट है। सामान्य भाषा में वैज्ञानिक भाषा और काव्य-भाषा दोनों की सम्भावना निहित है। किन्तु दोनों में अन्तर मौलिक है। दोनों को सामान्य भाषा के दो भिन्न छोरों पर हम रख सकते हैं। सामान्य भाषा के सम्प्रेषण में निर्देशपरक तत्त्व और भावपरक दानों तत्त्व विद्यमान रहते है। निर्देशपरकता भावपरकता से अधिक उसमें रहती है। किन्तु वैज्ञानिक भाषा में निर्देशपरक प्रयोजन रहता है, तो काव्यभाषा में भावपरक प्रयोजन। काव्य भाषा में निर्देशपरकता में भाषिक चमत्कार से निर्देशपरकता का प्रभाव भावपरक के रूप जैसा होता है। वैज्ञानिक भाषा में निर्देशपरकता केन्द्रित और स्थिर रहती है। वैज्ञानिक भाषा में संहिता पक्ष की प्रधानता है, तो काव्य भाषा सन्देश पक्ष की। संहिता पक्ष की प्रधानता लेकर वैज्ञानिक भाषा बहिर्मुख होती है। भावपक्ष को लेकर काव्य भाषा अन्तर्मुख है।

एतदर्थ कथ्याभिव्यक्ति में प्रकृति और निर्माण दोनों में अन्तर दोनों भाषाओं की निजी विशिष्टताएँ हैं ।[१]

सारांश, काव्य में भाषा प्रयोग को लेकर एक विशिष्ट रूप का एक विशिष्ट प्रत्यक्षीकरण होता है । यह अवश्य स्वीकार्य है कि काव्यभाषा सामान्य भाषा से निष्पन्न है । क़िन्तु यह भी उतना ही स्वीकार्य है कि काव्य भाषा अपने प्रभाव को लेकर कहीं सामान्य भाषा का अतिक्रमण करती है । काव्य भाषा के अपने प्रतिमान होते हैं जो मानक भाषा से अधिक संबद्ध हैं । काव्य में अन्तर्लक्ष्य प्रभाव अधिक होते हैं जहां भाषिक संरचना भावाभिव्यञ्जक होती है । साथ ही काव्य भाषा तथा मानक भाषा में अभिव्यक्ति के उपलब्ध उपकरण पर्याप्त नहीं होते हैं । तब कवि प्राप्त उपकरणों के आधार पर नव प्रयोग का प्रवर्तन भी करती है । शब्दों के प्रतीतीकरण में विस्तृति आ जाती है । तथाविध नव प्रयोग से भाषा में समृद्धि उत्पन्न होती है । एतदर्थ अतिक्रमण के चलते काव्यभाषा की सर्जनशील और कल्पनाशील स्थितियाँ बनी रहती हैं । काव्यभाषा सामान्यभाषा का नव रूपान्तरण बन जाती है ।

हमने देखा है कि कि सौन्दर्य मूलक तथा संस्कृतिमूलक प्रयोजनों को लेकर कवि निर्माता होता है । नव-निर्माण के लिए उसे असंभाव्य में संभाव्य का स्थापन करना पड़ता है । एतदर्थ काव्य-भाषा में अधिकांशत: शाब्दिक ग्रहण प्रतीकार्थ में होता है । काव्य भाषा अनुभूति से रंजित होती है । इसलिए प्रतीक ही काव्य बन जाता है, काव्य में प्रयुक्त शब्दों की अर्थप्रतीति एकाधिक दिशाओं में होती है । कारण, काव्य भाषा में शब्दों का भाव-साहचर्य प्रधान है । एतदर्थ काव्य भाषा में शब्दों की अनेकार्थत: स्वत: ग्राह्य है । इसीलिए कहा जाता है कि काव्य भाषा में वाच्येतर अर्थों की प्रधानता है । काव्य भाषा का चमत्कार शब्द-प्रतीकों की सममूल्यता में है, न कि इन के समीकरणों में ।

---

१. वेलेकवारेन : थियोरी ऑफ लिटरेचर– पृ० २२-२३

काव्य में भाषिक चमत्कार विभिन्न रूपों में आता है, कहीं अनुस्यूत रूप में, कहीं समन्वित रूप मे, तो कहीं आनुषंगिक रूप में । शब्द भाषा का शरीर है और शब्दार्थ उसका प्राण । शब्द और अर्थ सम्पृक्त होकर ही काव्य चमत्कार उत्पन्न करते हैं । पुष्प के सुवास को जिस प्रकार पुष्प-दल से पृथक नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार अर्थ को शब्द से अलग नहीं किया जा सकता है । अत: काव्य में रस और रसोपकरण को, भाव और भावाभिव्यक्ति को तथा काव्य के तत्त्व और रूप को अविभाज्य मानने में ही विवेक है । दोनों का पृथक निर्देश लौकिक व्यवहार के लिए हैं, वस्तुत: ये दोनों अभिन्न और एक रूप में अवस्थित हैं ।

शब्द और अर्थ सहित भाव में तो साहित्य है :

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा ।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ।।[१]

लिङ्गपुराण में पार्वती का एक नाम है, वाणी या वाक् । **रुद्रहृदयोपनिषद्** में शिव का अभिधान **अर्थ** से किया गया है । इस प्रकार पार्वती और शिव वागर्थ हैं । उमा वाग्रूपिणी व्यक्त है और शिव अर्थ के पर्याय में अव्यक्त हैं । **व्यक्तं सर्वम् उमारूपम् अव्यक्तं तु महेश्वरम्** । पर दोनों सम्पृक्त है, अर्धनारीश्वर के रूप में उन दोनों का एकत्व है । इसीलिए कालिदास की प्रार्थना है :

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।[२]

वाक्यपदीय की टीका में कहा गया है :

यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम् ।।[३]

● ● ●

---

१. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित— १-१६

२. कालिदास : रघुवंश— १-१

३. वाक्यपदीय— १.१६ की टीका

सप्तम अध्याय

तथ्य-संकलन

जैसा कि पहले कहा गया है, भाषा हो या काव्य, दोनों सम्प्रेषण की प्रक्रिया है। भाषा का सम्प्रेषण सामान्य सम्प्रेषण होता है, उसमे विविधता है। काव्य का माध्यम भाषा ही है, किन्तु वह संस्कार का सूचक है, उसमें परिमार्जन और परिष्कृति है। यहाँ विशिष्ट सम्प्रेषण प्राप्त है। सामान्य भाषा के सम्प्रेषण में जो सक्रियता, सर्वगामिता अथना अराजकता है, वह काव्य-सम्प्रेषण में परिसीमित है। यों तो **कवयः किं जल्पन्ति, किं न भक्षन्ति वायसाः** वाक्य लोक प्रचलित है। किन्तु कवि की उक्ति विशिष्ट होती है, सामान्य भाषा-भाषी के कथन से भिन्न है। संस्कृत के कवि और काव्यशास्त्री राजशेखर ने ठीक ही कहा :

उत्तिविसेसो कव्वं भासा जो होइ सा होइ॥[१]

चाहे प्राकृत में काव्य हो, अथवा संस्कृत में काव्य **उक्तिविशेष** ही होता है। सामान्य भाषा के सम्प्रेषण में अधिकांशतः संकेतपरक तत्त्व ही होते हैं, जबकि काव्य भाषा का सम्प्रेषण भावपरक होता है। काव्य के उपकरणों की प्रभावशीलता उसके विशिष्ट अभिकथन में ही होती है। काव्य भाषा की साभिप्रायता उक्ति-वैशिष्ट्य से ही निष्पन्न होती है। भाव काव्य का प्राण है और उक्तिविशेष उसका रूप है।

काव्य में भाषा की स्वीकृति विविध रूपों में ग्राह्य अवश्य है, किन्तु इसके साथ यह भी स्वीकार्य है कि काव्य मूलतः भावाभिव्यक्ति का प्रबल साधन है।

---

१. राजशेखर : कर्पूरमञ्जरी– १-८

इसमें, जैसा कि भरत मुनि ने माना है, रस अथवा भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रवृत्त नहीं है : **नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते** इसी को पाश्चात्य काव्यशास्त्री **आई० ए० रिचर्ड्स** ने भाषा का भावमूलक प्रयोग कहा है[1] । यह भावमूलक प्रयोग काव्य में पाठगत अथवा श्रुतिगत सुसंबद्धता और सौन्दर्यात्मक समवाय से परिचालित है । भाषिक घटकों— वर्ण, पद, पदबंध और वाक्य सभी की सफलता भावपरक सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त करने में है । भाषिक घटकों की विशिष्टता से काव्य में विशिष्टता उत्पन्न होती है। क्योंकि सौन्दर्यवृत्ति की अभिव्यञ्जना काव्यवृत्तियों की संरचना से सम्बद्ध है ।

यह स्वीकार्य है कि काव्यभाषा काव्येतर-भाषा से भिन्न होती है । वह सामान्य-भाषा से अपने विशिष्ट रूप को लेकर पृथक् है । काव्यभाषा सामान्य भाषा से अवश्य उद्भूत है, किन्तु इसमें सामान्य भाषा में उपलब्ध अभिव्यक्ति के शब्दादि उपकरणों की वास्तविक तथा सम्भाव्य शक्तियों का कौशल पूर्ण उपयोग होता है । काव्यभाषा में सामान्य भाषा के प्रतिमानों का अतिक्रम होता है। तथाकथित अतिक्रम काव्य की वक्रता अथवा चारुता की सृष्टि करता है ।

काव्य की वास्तविक वक्रता कल्पनात्मक अभिव्यक्ति लेकर होती है । कल्पनात्मक अभिव्यक्ति विम्बों द्वारा अर्थ अथवा भाव का मूर्तीकरण है । तभी काव्य का भाव अथवा कथ्य शब्दार्थ में अनुबिद्ध होकर चारुता अथवा वक्रता को उत्पन्न करता है । भारतीय चिन्तन में साहित्य शब्द और अर्थ के सामञ्जस्य में माना गया है । वैदिकोत्तर काल में साहित्य और काव्य दोनों पर्याय हैं । इसी सामञ्जस्य का सर्वाधिक आकर्षक और श्रेष्ठ काव्यरूप कविता है। वर्तमान काल की आकवितावादी कविता में जहाँ शब्द और अर्थ के खण्डित रूप दृष्टिगोचर होते हैं, वे काव्य की खण्डित अथवा अनेक स्थलों में विपर्यस्त धारणा के परिणाम हैं । ऐसी रचना आस्थाहीन चिन्तन का प्रतिफलन है, जहाँ बालमनोवृत्ति रखने वाले व्यक्ति ही आकृष्ट हो सकते हैं । वस्तुतः काव्य की प्राचीनतम परिभाषा शब्दार्थौ

---

१. भरत : नाट्यशास्त्र— ६-३२

काव्यम् अथवा मध्ययुग के पुरोधा काव्यशास्त्री **पण्डितराज जगन्नाथ** द्वारा दी गई **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्** आज भी असिद्ध नहीं है। हम तो कहेंगे, **काव्य शब्दार्थ के माध्यम से भाव का उच्छ्वास है**। अतः काव्यभाषा की स्वायत्ता सर्वथा स्वीकार्य है।

भाव, संवेदन तथा विचार की वाहिका के रूप में भाषा काव्य की मनोभूमि को प्रस्तुत करने में सक्षम साधन है। एतदर्थ काव्यभाषा उक्त रूप में कवि के वस्तु-वर्णन के चातुर्य्य को लेकर वर्ण-विन्यास, शब्द-चयन, वाक्य-निर्माण प्रभृति चारुताओं का पर्याय है। कवि सामान्य भाषा की परिधि के अन्तर्गत जन-सम्पर्क से प्राप्त संजीवनी शक्ति को सुरक्षित रखकर शब्द और शब्दार्थ प्रयोग को कल्पना-तत्त्व और राग-तत्त्व से संवलित करता है और शब्दार्थ युगल को वह अभिव्यक्त करने में जिस भाषा को माध्यम बनाता है, उसमें विषयानुकूल माधुर्य, औदार्य और मार्दव रहते हैं। वस्तुतः भावमय तत्त्व के ग्रहण के लिए अभिधात्मक भाषा प्रयोग से अधिक चमत्कारक लाक्षणिक और व्यञ्जक भाषाप्रयोग होते हैं, कारण यहाँ शब्दागत भावसाहचर्य का प्राधान्य प्रभावशीलता के साथ प्राप्त होता है।

यह मान्य है कि काव्य सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्याभिवृत्ति से सम्बद्ध है। काव्यकृति मूलरूप में सौन्दर्य-सृष्टि है, एक सौन्दर्य वस्तु, जिसके प्रति हमारी अभिवृत्ति सौन्दर्यमूलक होती है। यह अभिवृत्ति व्यावहारिक, वैज्ञानिक तथा आचारिक अभिवृत्तियों से भिन्न है। इस अभिवृत्ति में ऐन्द्रियबोध प्रबल रहता है। एतदर्थ काव्य में रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और ध्वनि आदि इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों के वर्णन के लिए तदनुरूप भावात्मक अभिव्यक्ति की अपेक्षा रहती है। अतः किसी भी काव्यरचना में संगीत, लय, सन्तुलन, सामञ्जस्य, अनुपात आदि आग्रहों के साथ विषयानुकूल भाषा का प्रयोग अपेक्षित है।

काव्य का भाषा-प्रयोग भावमूलक होता है। इस कथन में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है। भावात्मक प्रभाव के लिए काव्यभाषा में शाब्दिक चमत्कार और गुणों के साथ अलङ्कार-सम्पदा का समावेश भी स्वाभाविक हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि काव्य में तथ्य तथा तथ्याभिव्यक्ति दोनों के सौन्दर्य एक साथ

रहते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कल्पना के प्रयोग से रमणीय अनुभूति की सुन्दर प्रतीति पाठक अथवा श्रोता में उत्पन्न होती है। एतदर्थ अनुभूति की रमणीयता के लिए रमणीय विषयानुकूल शब्दावली प्रयुक्त होती है, जहाँ अलङ्कार-प्रयोग भी भावानुकूल होकर काव्य-सौन्दर्य में अनिवार्य तत्त्व बन जाता है। इसीलिए आचार्य वामन की मान्यता है :

काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।[1]

काव्य में भाषा प्रयोग सौन्दर्यात्मक परितोष और भावात्मक सन्तुष्टि के लिए होता है। **कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते** न्याय के अनुसार उपादान जैसा होगा, उपादान द्वारा आरम्भ किया गया कार्य भी वैसा ही होगा। सुन्दर शब्द और सुन्दर अर्थ लेकर तनिक भी सन्देह नहीं है। काव्य का अलङ्करण काव्य की भाषा है। भाषा काव्य का परिधान है। **काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्**[2] तथा **सौन्दर्यमलङ्कारः** वामन के वाक्यद्वय अपने व्यापक अर्थ में आज भी प्रामाणिक वाक्य बने हुए हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति की तात्त्विक अभिन्नता, जो प्राचीन काल से प्रतिपादित है, आज भी उसकी स्वीकृति सङ्गत है।

भावानुकूल शब्द-विधान में काव्य की रमणीयता होती है, यह भारतीय काव्यशास्त्र का मान्य सिद्धान्त है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रामाणिक आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ के मन्तव्य **चिदाभरणभङ्ग** का रहस्य तथाविध काव्यसौन्दर्य का रूपायण है। उनके द्वारा प्रदत्त काव्यलक्षण **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्** भी इसी मनःस्थिति का प्रतिफलन है। चित्त पर पड़े आवरण के भङ्ग होने पर रसानुभूति अथवा काव्यसौन्दर्य मन के जाग्रत भावों का दर्शन है। यह तभी सम्भव है जब शब्दों के समुचित विधान से अर्थ का समुचित सम्प्रेषण हो। काव्यचमत्कार भाव और भाषा दोनों का चमत्कार है। कविकर्म सर्वप्रथम अर्थच-

---

१. आई० ए० रिचार्डस् : प्रिन्सिपल ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म : द टु टुजेज ऑफ लैंग्वेज–पृ० २६७

२. वामन : काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति–१-१-१-२

मत्कार के नियोजन को लेकर होता है । तत्पश्चात् भाषानुरूप शब्दविधान है जिसमें अर्थवत्ता हो और भाव का समुचित सम्प्रेषण हो । आधुनिक शब्दावलि में सौन्दर्य शब्द और अर्थ की सममिति में होता है । शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार में शिल्पवैभव और भाव-वैभव रूपायित हैं ।

कुशल कवि के काव्य में नियमतः भावावेग की स्वाभाविक भावाभिव्यक्ति होती है, जहाँ भावगत और भाषागत किसी प्रकार की विसङ्गति नहीं होती है, वहाँ किसी प्रकार का अनौचित्य देखने में नहीं आता है । शब्द और शब्दार्थ दोनों समान रूप में चमत्कारक होते हैं । महाकवि वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास के काव्य में शब्द-सम्पदा और भाव अथवा शब्दार्थ-सम्पदा समान रूप में प्राप्त हैं । इसीलिए वे वन्द्य हैं । इसी प्रकार का काव्याकर्षण पाश्चात्य कवियों—होमर, दान्ते, शेक्स-पिअर और रासन में है । तथाविध काव्य में भाव और भावाभिव्यक्ति दोनों का समान महत्त्व है । भावसौन्दर्य और शिल्पसौन्दर्य सर्वांगीण आकर्षक हैं । ऐसे काव्य में शब्द और अर्थ की योजना, अलङ्कारों का सन्निवेश तथा छन्दोनियोजन इतनी कुशलता से किये जाते हैं कि भावग्रहण अथवा रसानुभूति में किसी प्रकार का विघटन नहीं होता है । कविशक्ति की महिमा में एकाध अनित्य दोष तिरोहित हो जाता है । निपुण कवि के हाथ भावराजि समुचित शब्दावली और भावानुरूप छन्दोवाणी में आत्मप्रकाश प्राप्त करती है । किन्तु तथाविध नैसर्गिक प्रतिभान के अभाव में जो कवि मात्र अभ्यास से अथवा यशः कामना लेकर काव्य-रचना करते हैं, उनके काव्यदोषों की सम्भावना बनी रहती है । इस प्रसंग में **आनन्दवर्धन** का निम्न श्लोक उद्धरणीय है :

> **अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।**
> **यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥**[1]

वस्तुतः काव्य-सौन्दर्य के समग्र-ग्रहण में वही कवि सफल होता है जिसमें वस्तु अथवा भाव के सौन्दर्य से रागात्मक अनुभूति की क्षमता होती है और

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, परिकरश्लोक, पृ० १९१

तत्पश्चात् रागात्मक अनुभूति प्राप्तकर वस्तु अथवा कथ्य से दूर रहकर तटस्थ भाव से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है। प्रत्यक्ष रागात्मक अनुभूति से वस्तु-सौन्दर्य की सघनता और इयत्ता का परिचय होता है और तटस्थ भाव से अभिव्यक्ति करने से वस्तु-सौन्दर्य को कलात्मक परिधान प्राप्त होता है। परिणामतः भाव और भावाभिव्यक्ति दोनों सौन्दर्य एक साथ आ जाते हैं। यहीं काव्य का समष्टिगत सौन्दर्य प्राप्त होता है।

स्पष्टतः कवि भाषा के माध्यम से एक विशिष्ट प्रकार की सौन्दर्य-निर्मिति को लक्ष्य रूप में स्वीकार कर अपनी रचना में प्रवृत्त होता है। कहा भी गया है :

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥[1]

काव्य-सृष्टि में वह काव्यविषयक विभिन्न उपादानों का प्रयोग करता है। परिणामतः काव्यभाषा प्रभावसंचार के सिद्धान्त को लेकर एक प्रभावसंचारी सृष्टि है, जहाँ उपयुक्त शैली, अपेक्षित गुण, स्फूर्त शब्दशक्ति, भावानुकूल अलङ्कार प्रयोग आदि शिल्पमूलक चारुत्व के दर्शन होते हैं।

काव्य में शब्द और शब्दार्थ के विशिष्ट सम्बन्ध के संरक्षण के लिए आचार्य महाराज भोज ने चार विशेष सम्बन्धों का उल्लेख अपने **सरस्वतीकण्ठाभरण** ग्रन्थ में किया है। **दोषहानं गुणोपदानमलङ्कारयोगो रसाभियोगश्चेति**[2]—दोषपरिहार, गुणाधान, अलङ्कारयोग तथा रसाभियोग। परिणामस्वरूप निर्दोष, गुणयुक्त, अलङ्कृत तथा रसान्वित रचना काव्य है और काव्य ही कवि की कीर्ति और प्रीति का कारण बनता है। अतः

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥[3]

---

१. अग्निपुराण : ३४५-१०

२. महाराज भोज: सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २

३. तत्रैव : पृ० २

वक्रोक्तिजीवित के रचनाकार कुन्तक ने भी शब्द और शब्दार्थ के तथाविध समप्रधानत्व में भी काव्य-गौरव माना है।

मम सर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥[1]

काव्य का प्रयोग आधुनिक काव्यशास्त्रीय चिन्तन के लिए होता है। लघुसीमा के अन्तर्गत छन्दोविधान लय स्वानिमिक अथवा शाब्दिक आकर्षण के साथ अर्थानुकूल भाषिक विन्यास काव्य में होता है। तथाविध लघुकायिक काव्यरचना में मनोदशा के अनुरूप कवि प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करता है। एतदर्थ यह आवश्यक है कि काव्य में भावानुकूल भाषा का प्रयोग अपेक्षित है। आकार उसके विभिन्न हो सकते हैं। काव्य पद्यबद्ध होता है, गद्यबद्ध भी हो सकता है, साथ ही गद्य-पद्य मिश्रित भी। जैसा कि आचार्य दण्डी ने कहा है :

पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्॥

पद्य, गद्य और मिश्र, जिसका परवर्ती नाम चम्पू है, काव्य के त्रिविध रूप हैं। इनमें काव्यत्व के लिए भावात्मकता का संरक्षण भाषिक विधान से होना चाहिए जहाँ काव्य का केन्द्रीय भाव शब्द अथवा बिम्ब के प्रभाव से सार्थक होता है।

पद्यात्मक अभिव्यक्ति गद्यात्मक अभिव्यक्ति से विशेष प्रभावशाली होती है। इस प्रभावशालिता का मुख्यकारण काव्य की लयात्मक अभिव्यक्ति है। काव्य वस्तुतः हृदयसंवाद होता है। हृदय की संवेदनशीलवृत्ति विशिष्ट स्वर, लय, गति, ध्वनिप्रवाह अथवा स्वर सामञ्जस्य के माध्यम से मूर्तमान होकर पद्यरचना में सौष्ठव और आकर्षण उत्पन्न करता है। भावगत कोमलता, मधुरता, सरलता अथवा परुषता काव्यभाषा के विशिष्ट सङ्केतों में व्यक्त होती है। काव्यजीवन के सामान्य क्षण की अभिव्यक्ति नहीं है, अपितु, उच्छ्वसित क्षण की मधुमयी वाणी है। काव्यभाषा का यह उच्छ्वास एक ऐसा वैशिष्ट्य है जो काव्यभाषा को सामान्य अथवा लोक-प्रचलित, दैनन्दिन भाषा से पृथक् करती है।

---

१. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्, वृत्ति, कारिका– १-७

यह पहले ही कहा गया है कि काव्य एक सर्जनात्मक प्रक्रिया है। भाषाशास्त्र का सर्वमान्य सम्प्रेषण है। सामान्य भाषा का सम्प्रेषण सामान्य अथवा लौकिक होता है। यह सम्प्रेषण सर्वप्रसारी है। विज्ञान का सम्प्रेषण रूढ़ अथवा निश्चित होकर पारिभाषिक है। काव्य में सम्प्रेषण विशिष्ट होकर अपने प्रभाव को लेकर सर्वग्राही-जैसा होता है। इस प्रकार काव्य का सम्प्रेषण विशिष्ट हो जाता है। इसमें काव्य की सर्वग्रहणशीलता और सक्रियता विद्यमान रहती है। एतदर्थ काव्य की भाषा सन्दर्भाश्रित बन जाती है। विषय, देश, काल आदि के आग्रहों के चलते परिवर्तनों का प्रसार ग्राह्य है। गीत-काव्य तो कविता का प्राण है। किन्तु प्रबन्धात्मक काव्य का निजी महत्त्व है। वह भावात्मक होकर भी अवसरानुकूल इतिवृत्तात्मक होता है, किन्तु छन्दोबद्धता तथा रागमयता के आग्रह को लेकर काव्यानुगत भाषाशैली के चलते इसके घटना-विवेचन में आकर्षण काव्यात्मक बना रहता है। प्रबन्ध में ऐसे मार्मिक स्थल माला के मणिपुष्पों के सदृश आकर्षक और मोहक हैं।

यहाँ यह भी स्वीकार्य है कि सामान्य भाषा की तरह काव्यभाषा भी नित गतिशील होती है, उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, जो शब्द अथवा शब्दार्थ काव्य के एक विशेष युग में प्रचलित अथवा लोकप्रिय था, वही कालान्तर में अप्रचलित अथवा अमान्य हो जाता है, पूर्वकाल में जो शब्द अथवा भाव ग्राम्य और अश्लील लगता था, वही परवर्ती काल में शिष्ट समाज द्वारा भी समादृत और प्रयुक्त होने लगता है। विवेक तो यही है कि शब्द-क्रम, अर्थ-नियोजन अथवा पाठादिव्यवस्था लेकर प्रवृत्ति एक शताब्द से दूसरे शताब्द में, साथ ही, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परिवर्तित रूप में देखी जाती है[१]। तुलनीय है दण्डी का निम्न श्लोक

सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति॥[२]

---

१. जोन एण्ड जोन लेभिट्ट : द स्पेल ऑफ वर्डस्, पृ० १५

२. दण्डी : काव्यादर्श, १-१९

वक्तव्य है कि काव्यभाषा, विषयवस्तु, युगबोध, सांस्कृतिक चिन्तन तथा लोकानुरञ्जन के अनुरोध से भाषा और काव्य में चयन तथा अतिक्रम की प्रक्रिया प्रभावित होती रहती है। इसके मूल में भाषा की सर्वभक्षणशीलता **लिंग्विस्टिक ओमनीवेरासीटी**—सतत कार्य करती है।

इसीलिए तो **वक्रोक्तिकारकुन्तक** ने भी कहा है :

लोकोत्तरचमत्कारकारिकाव्यवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥[१]

पाश्चात्य भाषाशास्त्री **इ० स्टैंकीबीज** की भी मान्यता यहाँ उल्लेख्य है : काव्य का शिक्षार्थी काव्य भाषा की प्रकृति की व्याख्या तभी कर सकता है, जब वह भाषा के मूलभूत नियम के, जो नियम काव्यभाषा का निर्धारण करता है, ज्ञान का उपयोग करता है। इस प्रकार कोई भी भाषाविज्ञानी काव्यात्मक अभिव्यक्ति को तभी समझ सकता है, जब वह संस्कृति एवं परम्परा की विभिन्न धाराओं को, जो धाराएँ काव्यकृतियों के विशिष्ट स्वरूप को निर्धारित करती हैं, ध्यान में रखे।[२]

इसमें सन्देह नहीं कि काव्यभाषा भाषा के प्रचलित रूप से भिन्न होती है। इस भाषा का निजी वैशिष्ट्य है। इस कथन को आधुनिक भाषाशास्त्र का समर्थन प्राप्त है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री **एफ० हॉकेट** का कहना है : **काव्यभाषा की सर्वोत्तम और आधारभूत परिभाषा यही है कि इसमें यथाशक्य पदविन्यास द्वारा प्रस्तुत आकृतियों के संगुम्फन का महत्त्व द्वितीय कोटिक हो जाता है। तात्पर्य है कि यहाँ वाच्यार्थ में अभिनव शक्ति प्रदान करने के साधन उत्पन्न हो जाते हैं।**[३] भारतीय आचार्य **आनन्दवर्धन** के ध्वनि तत्त्व की मान्यता भी तथाविध है। इसके मतानुसार कवि व्यङ्ग्यार्थ के साधन के रूप में वाच्यार्थ का आदर करते हैं।

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।

---

१. कुन्तक : वक्रोक्रिजीवितम्, १-२

२. इ० स्टैंककीवीज : लिंग्विस्टिक्स एण्ड द स्टडी ऑफ दि पोएटिक लैंग्वेज— पृ० ७९

३. एफ० हॉकेटः द कोर्स ऑफ माडर्न लिंग्विस्टिक्स— पृ० ५५९

तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥[१]

काव्यशब्दों का महत्त्व अर्थपुञ्ज से गुम्फित होने पर होता है। शब्दों का अर्थवैविध्य निरन्तर गतिमय रहता है। ध्वन्यालोक में कहा गया है :

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥
तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः ततो नेह प्रतन्यते ॥
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥[२]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि काव्य भाषा में एक ऐसी झंकृति विद्यमान है जिसमें पाठक अथवा श्रोता की हृदय तंत्री भी झंकृत हो जाती है। यहाँ बाह्य अनुकृति आन्तरिक अभिव्यक्ति की अनुकृति मात्र होती है। फलतः भाव अथवा काव्य और भाषा की अखण्डता असन्दिग्ध है।

प्रयोजन लेकर साहित्य और काव्य दोनों पर्याय हैं। अतः विषय-विवेचन का समापन साहित्य-स्तुतियों से काम्य है, जिनमें साहित्यकार और कवियों को प्रणतिज्ञापन है :

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं
काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यत्तस्य दैत्या इव लुण्ठनाय
काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥[३]

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– १-९

२. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक– १-२-४

३. परिमलगुप्त : नवसाहसाङ्कचरितम् १-१४

तथा—

पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत् प्रतिबिम्बितम्।
यो यो जयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति ॥[१]

● ● ●

१. मुकुलभट्ट : अभिधावृत्तमातृका–१४

समापन

पिछले सात अध्यायों में काव्य और भाषा के विवेचन को शास्त्रों से सन्दर्भित करने का प्रयास किया गया है। प्रथम अध्याय विषयावतरण है, जिसमें भाषा और काव्य का पारस्परिक सम्वन्ध प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय अध्याय में भाषा और शब्दार्थ का विवेचन है। वाक्यपदीयकार के **वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेक्रो न कश्चन** वाक्य के अनुसार वाक्य और वाक्यार्थ भी विवेचित हुए हैं। वाक्य के बिना हम शब्द प्रयोग सोच भी नहीं सकते हैं। तृतीय अध्याय में काव्य के कथ्य के रूपों में रस और भाव का सैद्धान्तिक प्रतिपादन हुआ है। चतुर्थ अध्याय में काव्य के उत्कर्षक और अपकर्षक के रूपों में गुण, रीति, अलंकार और दोषादि वर्णित हैं। प्रञ्चम अध्याय में भारतीय साहित्यालोचन के ध्वनिवाद और वक्रोक्तिवाद-दो मुख्य काव्यवादों की चर्चा हुई है। षष्ठ अध्याय में काव्य का भाषिक निरूपण है, जहाँ अध्ययन भाषा शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप हुआ है। अन्तिम अध्याय में काव्य और भाषा को लेकर तथ्य-संकलन है। जिसमें प्राचीन और आर्वाचीन मान्यताओं के आधार पर निष्कर्ष निकाले गये हैं।

प्रभाववाद तो आजकल साहित्य-समीक्षा जगत् में खूब प्रचलित हो गया है। काव्यालोचन का सम्बन्ध क्या से व्यवच्छिन्ना पदावली—वक्तव्य की संतुलित अभिव्यक्ति वाला पदसमूह ही काव्य है, चिरंतन सत्य है।

यह भी सत्य है कि काव्य भाषा, भाषा का एक विशिष्ट रूप है। काव्य-भाषा काव्येतर भाषा से भिन्न होती है। वह सामान्य भाषा से भिन्न होती है। वह सामान्य भाषा से अवश्य उद्‌भूत है, किन्तु इसमें सामान्य भाषा में उपलब्ध अभिव्यक्ति के शब्दादि उपकरणों की वास्तविक तथा संभाव्य शक्तियों का कलात्मक प्रयोग होता है।

काव्य का भाषा प्रयोग भाव मूलक होता है। काव्य में मनोभावों की ऐसी अभिव्यक्ति अपेक्षित है, जिससे श्रोता अथवा पाठक में कवि के समान मनः स्थिति उत्पन्न हो। शब्दों में भाव-साहचर्य अपेक्षित है।

निष्कर्ष रूप में कहा गया है कि काव्य-भाषा में एक ऐसी झंकृति विद्यमान है, जिससे पाठक अथवा श्रोता की हृदयतंत्री भी झंकृत हो जाती है, जहाँ बाह्य अनुकृति मात्र होती है, फलतः भाव अथवा नहीं, **कैसे** से हो गया है। फलतः तथ्यावधारण की ओर-ध्यान कम हो गया है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में तथ्य निरूपण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। विचार-निरूपण में पूर्वाग्रह नहीं है। प्राचीन ओर नवीन मतों के अन्वीक्षण के पश्चात् मैंने अपनी मान्यताएँ व्यक्त की हैं। पुरानी लकीर पीटने की आदत नहीं है। अन्धानुसरण त्यांज्य है किन्तु प्राचीन सम्पदा का अवमूल्यन भी एक अपराध है। जिस प्रकार—बाल्मीकि का आदिकाव्य महनीय है, आदर्श काव्य है, उसी प्रकार काव्यालोचन में भरत का नाट्यशास्त्र प्रथम ग्रन्थ होकर भी महान् है। इसमें मानव-मन का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है, वह आज भी मनोवैज्ञानिक तथा सौन्दर्यशास्त्रीय अनुसन्धानों से मेल खाता है। इसी प्रकार भाषा के अध्ययन के लिए वाक्यपदीय अनुपम ग्रन्थ है।

काव्य का सौन्दर्य शब्द और अर्थ की सुन्दर सममिति में है, यह भारतीय काव्य शास्त्र की सुप्रतिष्ठित मान्यता है। **संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थम्**—काव्य तथा भाषा की अखण्डता असन्दिग्ध है।

काव्य के विषय में यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि यह भाषा का विशिष्ट प्रत्यक्षीकरण है और भाषा इसका मेरुदण्ड है।

कवि की वाणी वन्दनीय है। **आचार्य मम्मट** ने इन शब्दों में इसकी स्तुति की है :

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

सहायक ग्रन्थ-सूची

(संस्कृत)

अभिनवगुप्त	अभिनवभारती, गायकवाड़ ओरि० सीरिज, ई० १९५६
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, ई० १९३७
कविकर्णपूरगोस्वामी	अलङ्कार-कौस्तुभ, वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, ई० १९२६
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित, सं० के० कृष्णमूर्ति, कर्णाटक यूनवरसीटी, धारवाड़, ई० १९७७
क्षेमेन्द्र	(१) औचित्यविचारचर्चा, काव्यमाला-१, निर्णय-सागर प्रेस, मुम्बई, ई० १८८६ (२) कविकण्ठाभरण, हरिदास संस्कृत सीरिज, ई० १९५३
जगदीशतर्कालङ्कार	शब्दशक्तिप्रकाशिका, संस्कृत कॉलेज, शोधप्रकाशन, कलकत्ता बंगाब्द १३८७
जगन्नाथ, पण्डितराज	रसगङ्गाधर, सं० मधुसूदनशास्त्री, हिन्दू विश्व० काशी, विक्रमाब्द २०२०

जयदेव — **चन्द्रालोक**, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, (तृ-संस्क०) ई० १९८४

दण्डी — **काव्यादर्श**, भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च सीरिज, पूना ई० १९७०

धनञ्जय — **दशरूपक**, निर्णयसागर-प्रेस, ई० १९४१

प्रतञ्जलि — **महाभाष्य**, सं० शिवजीवन भट्टाचार्य, इण्डियन काउन्सिल ऑफ फिलोसोफिकल रिसर्च, नई दिल्ली, ई० १९९१

भरत — (१) **नाट्य-शास्त्र**, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली-बनारस, ई० १९८३
(२) (हिन्दी) **नाट्य-शास्त्र**, सं० बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, वि०सं० २०३५

भर्तृहरि — (१) **वाक्यपदीय**, सं० के० भि० अभयंकर, पूना, ई० १९६५
(२) **वाक्यपदीय**, सं० राघवन पिलाई, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली-पटना-बनारस, ई० १९७१

भोज — **सरस्वतीकण्ठाभरण** काव्यमाला-९४, निर्णय सागर प्रेस, द्वितीय संस्करण, ई० १९३४

मम्मट — **काव्यप्रकाश**, सं० राम सागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली-पटना-वाराणसी, ई० १९८३

मल्लिराज (अल्लराज) — **रसरत्नप्रदीपिका**, भारतीय विद्याभवन मुम्बई, ई० १९४५

मुकुलभट्ट — **अभिधावृत्तमातृका,** सं० मंगेश रामकृष्ण तेलंग, बम्बई, ई० १९१६

राजशेखर — (१) **काव्य-मीमांसा,** चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, ई० १९३४

(२) **कर्पूरमञ्जरी,** हरवर्ड ओरियन्टल, सीरिज मोती लाल वनारसी दास, द्वि० संस्करण, ई० १९६३

राजानक श्रीमहिमभट्ट — **व्यक्तिविवेक,** संस्कृत कॉलेज प्रकाशन, कलकत्ता, ई० १९७५

रुद्रट — **काव्यालङ्कार,** निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, ई० १९२८

रूय्यक राजानक — **अलङ्कारसर्वस्व,** सं० गौरीनाथ पाठक, शारदा भवन, काशी वि० सं० १९८३

वामन — **काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति,** संस्कृत पुस्तक भाण्डार, कलकत्ता ई० १९७७

विश्वनाथ — **साहित्यदर्पण,** सं० हरिदास शर्म्मा, कलकत्ता, शकाब्द १८४१

शारदातनय — **भावप्रकाशन,** ओरियन्टल इन्स्टिच्युट, बड़ौदा, ई० १९३०

हेमचन्द्र — **काव्यानुशासन,** काव्यमाला संस्करण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, ई० १९०१

• • •

SELECT BIBLIOGRAPHY

(Foreign languages)

Ashby, W.Ross	*An Introduction to Cybernetics* London, 1957
Baudelaire	*Les Flewes Du mal,* Paris, 1857
Bodmer, Fredric	*The Loom of Language,* London,1955
Bradley A.C.	*Poetry for potry's pake,* London, 1926
Breman Laurence D.	*Modern Communication Effectiveness* New Jersey, 1963
Donald F.Miller	*The Reason of Metaphor, Sage publication,* New Bury Park, London, 1991
Goldberg. Isaac	*The wonder of words,* London, 1958
Greenbough J.B.	*Words and Their ways in English speech,* New York,1961
Hayakawa, S.	*Language in Thought and Action* New York, 1949

Hockettcharls F.	*A course in Modern Linguistics,* New York, 1962
Jean Perrot	*La Linguistique, Que Sai's Je Presses univesrritires De trance,* Paris, 1957
Levitt John & Joan	*The spell of words,* Beaconsfield, 1963
Mason Stella E.	*Sings, Signals and Symbols,* London, 1963
Mickail Khrap-chenko	*Artistic Creativity, Reality and man,* Moscow, 1978
Ogden C.K. & Richards	*The Meanings of Meaning,* London, 1944
Osborn Harold	*Aesthetics and Criticism,* London, 1955
Pai Mario	*The Story of Language,* London, 1952
Paul Chauchard	*Le Langage Et La Pansee,* Presses Universities De Trance, Paris, 1956
Paul Ginestier	*The Poet and the Machine,* Oxford University Press, London, 1961
Pierre Guiraude	*La Semantique,* Paris, 1955
Potter Simeon	*Modern Linguistics,* London, 1960

Richards I.A. — (1) *Principles of Literary Criticism,* London, 1955
(2)*Practical Criticism,* 1956

Richard Kearney — States of Minds, (Dialogue with contempary thinkers on the European Minds) Manchester University Press, 1955

Saussure Ter-dinard De — *Cours de Linguistiques Generale,* Paris, 1955

Sayce — *Introduction to the Science of Language,* vol.I London, 1883

Stankiewicz E. — *Linguistics and the Study of Poetic Language,* Sebeok Edition, 1961

Susan Sontag — *Styles of Radical will,* Delta book, New York,1966

Susanne K. Langer — *Feeling and Form* Charles Scribner & sons, New York, 1952

Vendryes — *Le Language, Introduction Linguistique* Histoire, Paris, 1921

Whatmough Joshua — *Language A Modren Synthesis* London, 1956

• • •
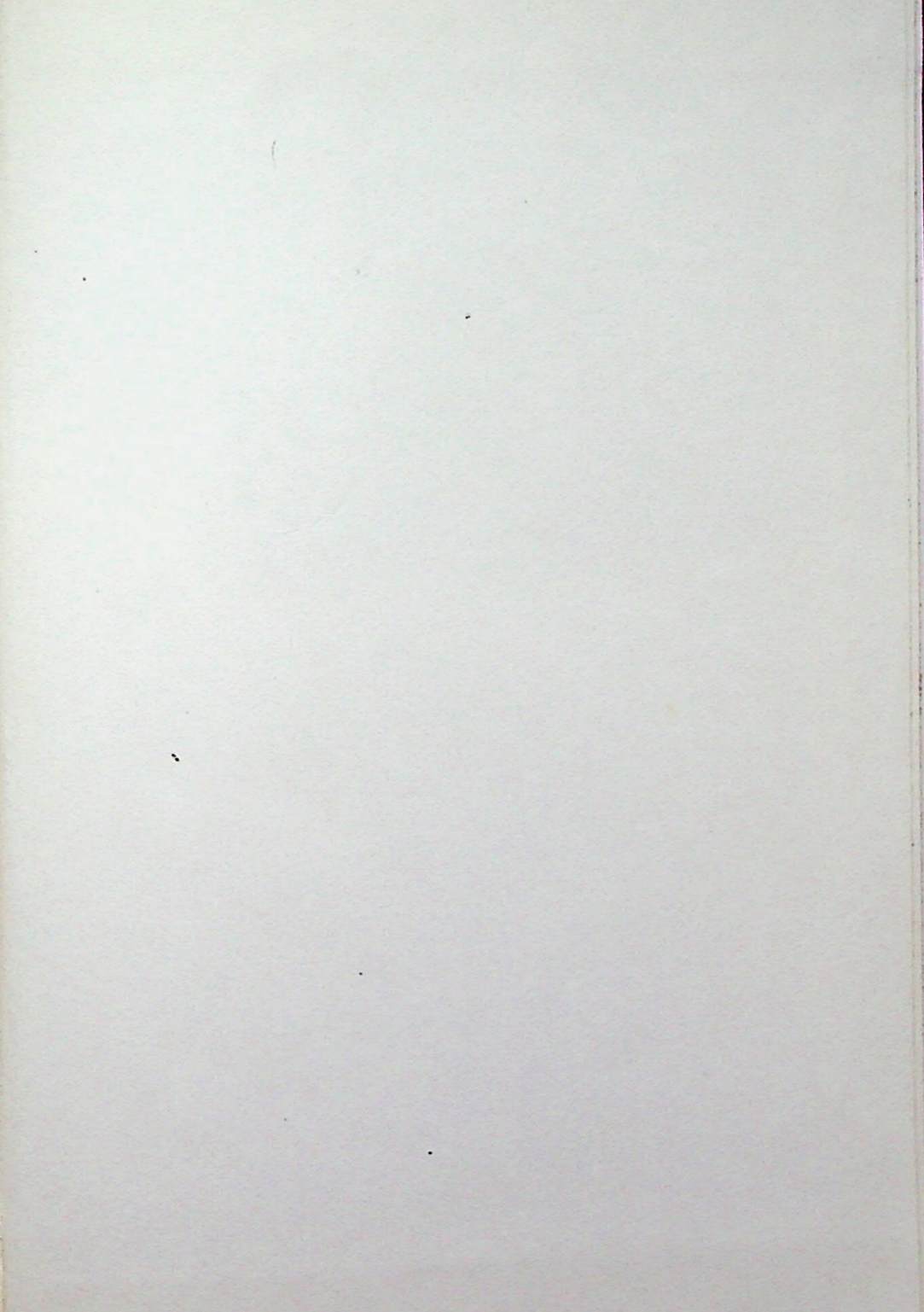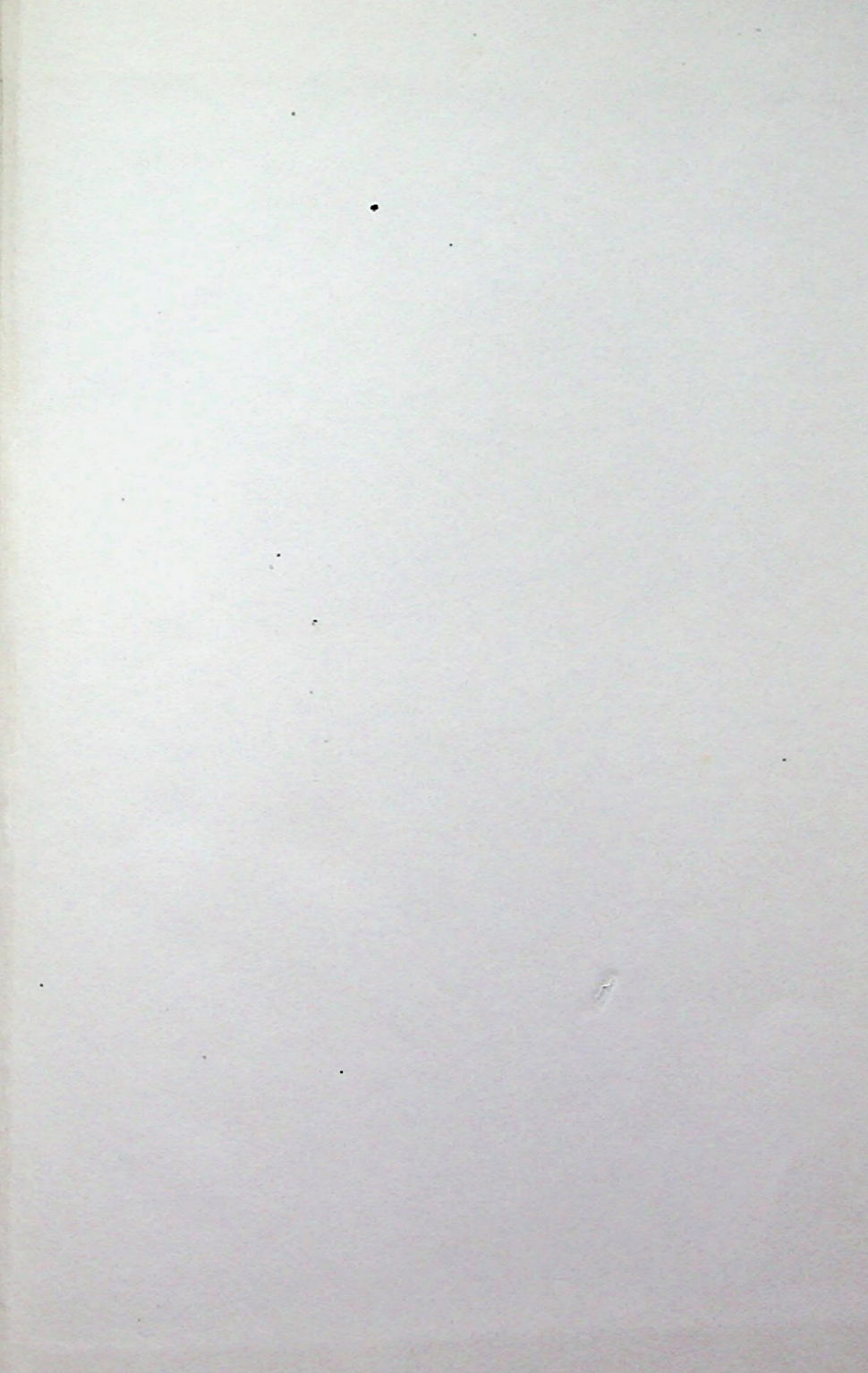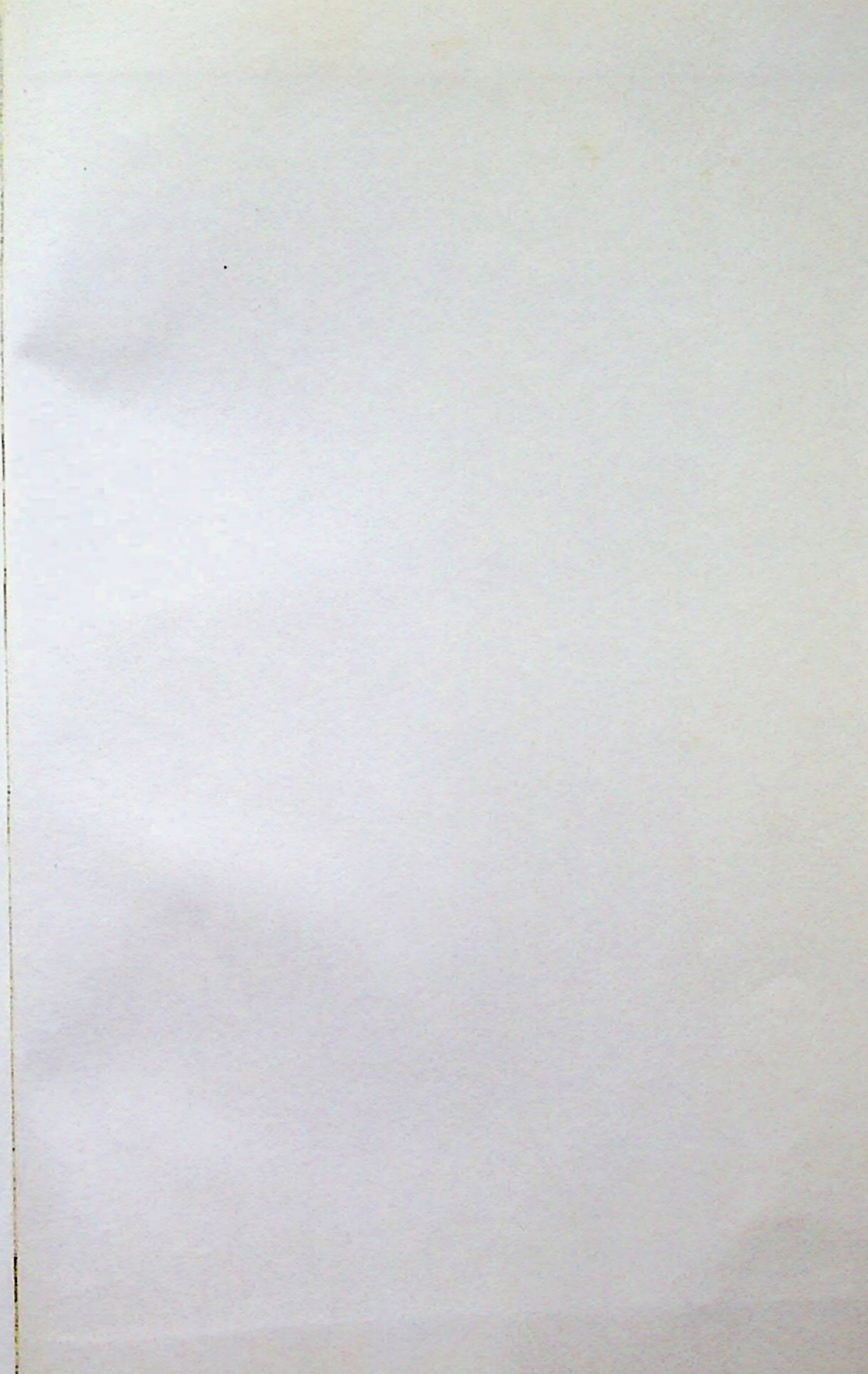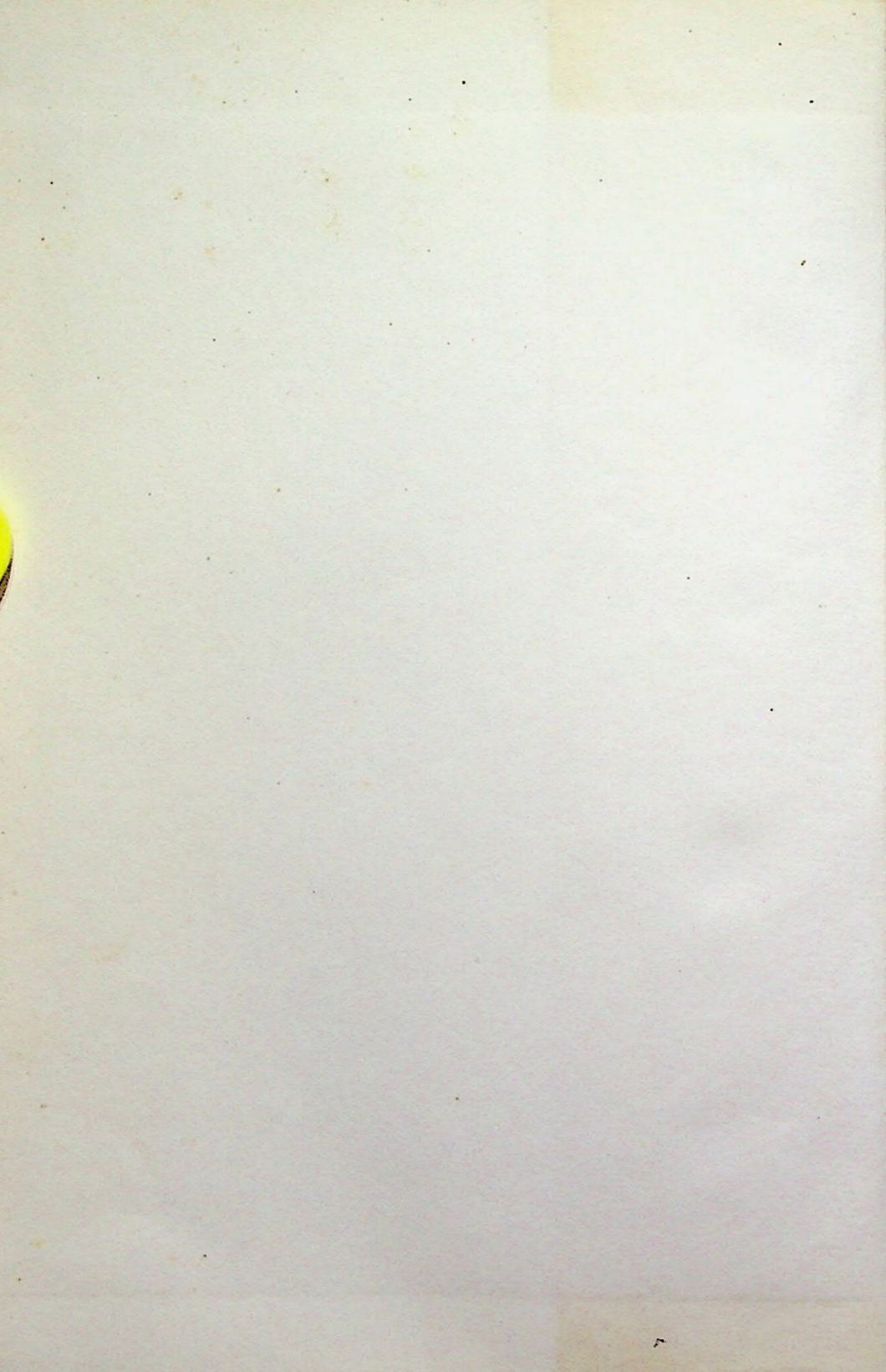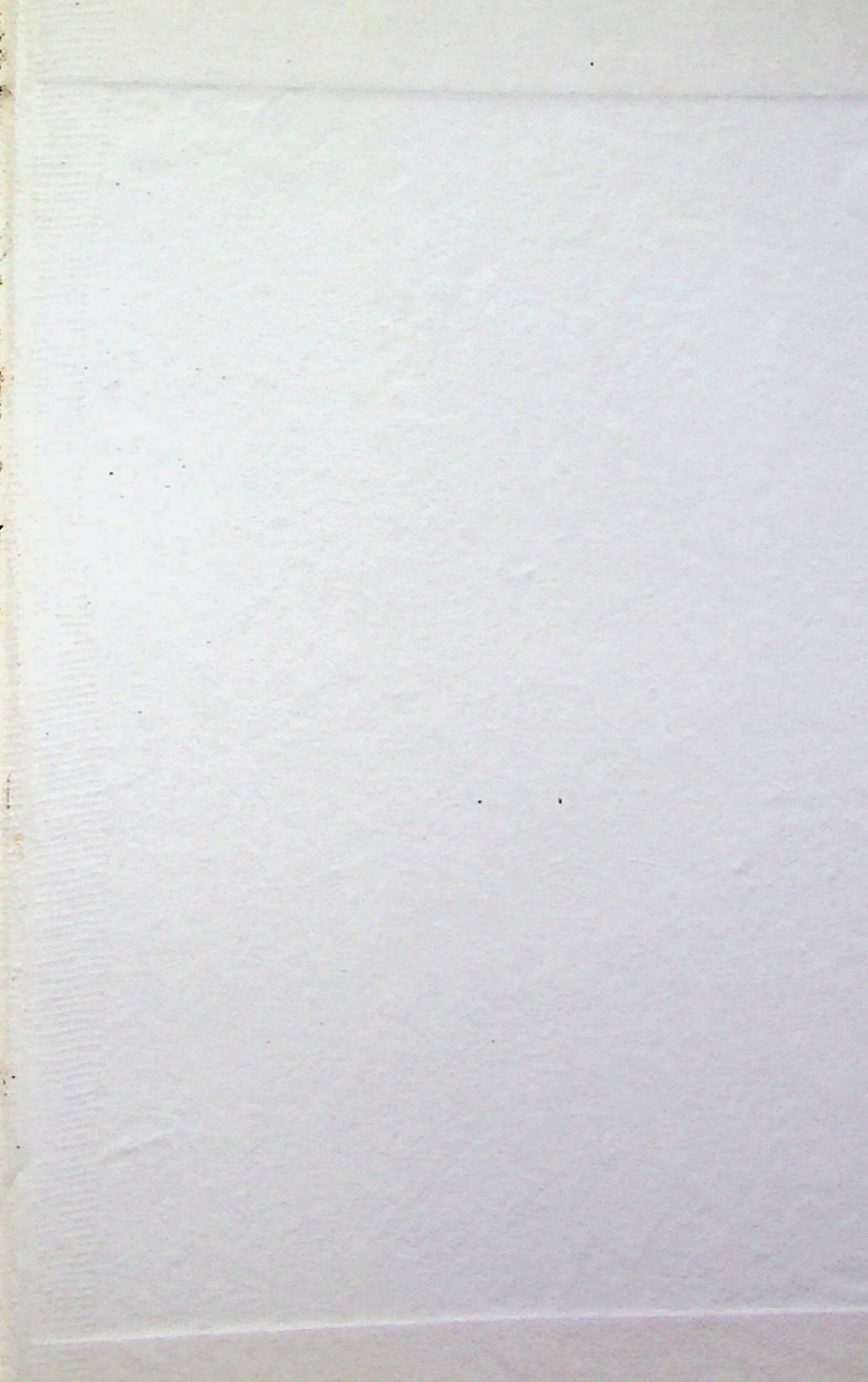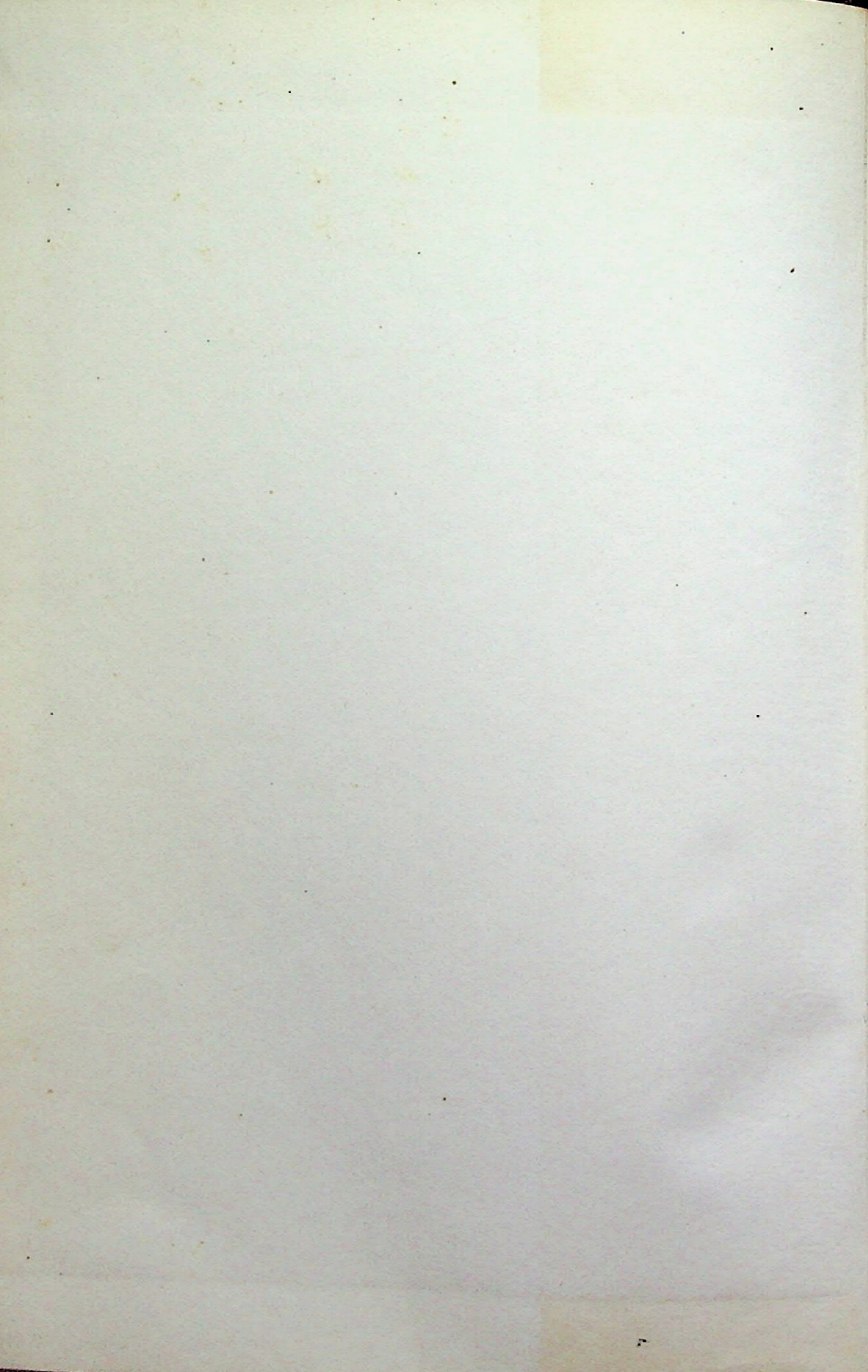
१९२८ ई० में जन्मे प्रो० मुनीश्वर झा ने पारम्परिक एवं आधुनिक-उभयविध धाराओं से स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की। आपने पेरिस विश्वविद्यालय से भारतीय भाषा विज्ञान में डी० लिट्० की उपाधि अर्जित की।

प्रो० झा ने भागलपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष, पश्चिम वंगाल के लोकशिक्षा विभाग के निदेशक एवं शिक्षा सचिव, कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति आदि पदों पर रहकर शिक्षानुष्ठानों को सुशोभित किया।

एक प्रतिष्ठित विद्वान्, लेखक, विख्यात भाषाशास्त्री एवं कुशल प्रशासक के रूप में आपको ख्याति प्राप्त है।